॥ श्रीहरिः ॥

119

अमृतके घूँट

रामचरण महेन्द्र

119

॥ श्रीहरिः ॥

अमृतके घूँट

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

अमृतके घूँट

हमारा सुधार क्यों नहीं होता? हम क्यों मोहनिद्रामें पड़े रहते हैं? वास्तवमें हमें अपनी त्रुटियों और कमजोरियोंका ज्ञान ही नहीं होता! जो व्यक्ति किसी भी प्रकारकी नैतिक भूल करता है, उस अल्पज्ञको यह ज्ञान नहीं होता कि वह गलत राहपर है। अन्धकारमें वह गलत राहपर आगे बढ़ता ही चला जाता है। अन्तमें किसी कठोर शिलासे टकरानेपर उसे अपनी गलती या दुर्बलताका ज्ञान होता है और तब ज्ञानके चक्षु एकाएक खुल जाते हैं। यहींसे उन्नतिका प्रभात प्रारम्भ हो जाता है।

जो अपनी दुर्बलताका दर्शन करता है, उसके लिये सच्चा पश्चात्ताप कर उसे दूर करनेकी इच्छासे सतत उद्योग प्रारम्भ करता है, उसका आधा काम तो बन गया।

दुर्बलताके दर्शन, सच्ची आत्मग्लानि, फिर उस दुर्बलताको हटानेकी साधना—यही हमारी उन्नतिके तत्त्व हैं। जिसका मन गलत राहसे हटकर सन्मार्गपर आरूढ़ हो जाता है, उसीको आध्यात्मिक सिद्धियाँ मिलनी प्रारम्भ हो जाती हैं। हमारे वेदोंमें ऐसे अनेक अमूल्य ज्ञान-कण बिखरे पड़े हैं, जिनमें मनको कल्याणकारी मार्गपर चलनेके लिये प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

भद्रं नो अपि वातय मनः। (ऋ० १०। २०। १)

अर्थात् हे परमात्मन् ! मेरे मनको कल्याणकी ओर ले चलो।

असंतापं मे हृदयमुर्वी। (अथर्व० १६। ३। ६)

हे परमात्मन् ! मेरा हृदय सन्तापसे हीन होता चले अर्थात् अपनी दुर्बलताके दर्शन कर मेरे मनमें जो ग्लानि उत्पन्न हो, वह सत्कर्म और

शुभ विचारके द्वारा दूर होती चले।

वि नो राये दुरोवृधि। (ऋ० ९। ४५। ३)

हे प्रभो! ऐश्वर्यके लिये हमारे आन्तरिक मनके द्वार खोल दो। (हमें निकृष्ट विचारोंसे मुक्ति दो और दैवी एकता, विपुलता, आत्मकल्याणके विचारोंसे परिपूर्ण कर दो।)

स्वामी दयानन्दजीने 'सत्यार्थप्रकाश' में एक स्थानपर दुर्बलताके दर्शन कर उसे निवारणके सम्बन्धमें कहा है—'सज्जनों और उन्नति करनेवालोंकी यह रीति है कि वे गुणोंको ग्रहणकर दोषोंका परित्याग सदा करते रहते हैं।'

'शीलं हि शरणं सौम्यः। (अश्वघोष)

वास्तवमें सत्-स्वभाव ही मनुष्यका रक्षक है। वही हमें सदा आशाप्रद कल्याणकारी मार्गपर आरूढ़ रखता है। सबसे बढ़कर कल्याण करनेवाला वह मन है जो सत्यके मार्गपर चलता है। जिस बुद्धि और विवेकके कारण मनुष्य बुद्धिमान् कहे जाते हैं, वही बुद्धि जब दुर्बलताके निवारणमें सच्चाईसे लग जाती है तो आधा काम बना समझिये। फिर हम निराश क्यों हों?

महेन्द्र-साहित्य-सदन
नयापुरा, कोटा (राजस्थान) **—रामचरण महेन्द्र**

निवेदन

प्रसिद्ध विचारशील श्रीमहेन्द्रजीके इस ग्रन्थमें अमृत-ही-अमृत भरा है। हमारे आजके कलिकलुषित असुरभावापन्न विषमय जीवनको बदलकर उसे दैवी सम्पदासे युक्त अमृतमय बनानेवाले परम सुन्दर भावोंका इसमें प्रवाह बह रहा है। पाठक इससे लाभ उठावें—इसमें उल्लिखित भावोंको अपने जीवनमें उतारकर पवित्र आदर्शजीवन बने। इसी आकांक्षासे इसे प्रकाशित किया जा रहा है।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

अमृतके घूँट

आपकी विचारधाराकी सही दिशा यह है

अपने जीवनके प्रति जैसी हमारी व्यक्तिगत भावना, दृष्टिकोण तथा कल्पना होगी, उसीके अनुसार हमारा मार्ग भी मृदु अथवा कर्कश होगा। यदि एक व्यक्ति सुखी एवं समृद्ध है तो इसका प्रधान कारण यह है कि वह सदा-सर्वदा शुभ भावनामें निवास करता है। यदि कोई व्यक्ति क्लान्त है तो इसका विशिष्ट कारण यह है कि वह मनकी वैज्ञानिक क्रियाको चिन्ता, सन्देह, कृशताके कुत्सित चिन्तनमें ही समाप्त कर देता है। सुख तथा दुःख, समृद्धि तथा कृशता, उदारता एवं संकीर्णता मानव-स्वभावकी उत्कृष्ट एवं निकृष्ट दो भूमिकाएँ हैं। इन दोनोंकी प्रतीति अधिकांशमें मनुष्यके व्यक्तिगत आदर्शों, विचार-धारा, मानसिक दृष्टिकोण, वातावरण तथा शिक्षा-दीक्षापर निर्भर है। एक व्यक्ति आशावादके स्फूर्तिदायक वातावरणमें जन्म लेता है, उत्साह और दृढ़ताकी शुभ्र शिक्षा प्राप्त करता है, उत्कृष्ट विचार-धारामें तन्मय रहता है और श्रद्धापूर्वक अपने उज्ज्वल भविष्यपर दृढ़ विश्वास रखता है। दूसरा व्यक्ति सन्देहान्वित और शंकाशील मनसे अपना जीवननाटक प्रारम्भ करता है, वह प्रतिकूल प्रसंगोंमें लिप्त रहता है, उसका जीवन-पुष्प अर्द्धविकसित अवस्थामें ही मुरझाने लगता है; अयोग्य एवं अभद्र वृत्तियों तथा अनिष्ट विचारोंसे ग्रस्त होनेके कारण वह सदैव खिन्न एवं क्षुब्ध बना रहता है। सद्भावनाके नियमोंका यथोचित रीतिसे पालन न करनेके कारण उसकी आत्मा मलिन, संकीर्ण एवं अनुदार हो जाती है। अपने मानसिक प्रवाहको अनन्त शक्तिके महासागरकी ओर प्रवाहित करने या न करनेपर उसका आत्मिक पूर्णता, उसका सौभाग्य, सच्ची समृद्धि और आत्मिक वैभव निर्भर है।

मनुष्यकी शिक्षा, प्राकृत अभिलाषा, संस्कार एवं कल्पनाराज्यपर उसका भविष्य ऐश्वर्य निर्भर है। 'मनुष्य! तू महान् है, उत्कृष्ट तत्त्वोंका स्वामी है, ईश्वरके दैवी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इस आनन्द-निकेतन मानव-सृष्टिमें आया है। तू सफलताके लिये, पूर्ण विजयके निमित्त, सुख-स्वास्थ्यके हेतु निर्मित किया गया है और इससे तुझे कोई विहीन नहीं कर सकता। शक्तिसागर परमात्माकी यह इच्छा कदापि नहीं है कि तू अपनी परिस्थितिके हाथका कठपुतला ही बना रहे। अपने आस-पासकी दशाका गुलाम बना रहे। ऐ अक्षय, अनन्त, अविनाशी आत्मा! तू तुच्छ नहीं, महान् है। तुझे किसी अशक्तताका अनुभव नहीं करना है। तू अनन्त शक्तिका वृहत् पुंज है। जिन साधनोंको लेकर तू अवतीर्ण हुआ है, वे अचूक हैं। तेरी अद्भुत मानसिक शक्तियाँ तेरी सेविकाएँ हैं। तू जो कुछ चाहेगा, वे अवश्य प्रदान करेंगी। तू उनपर पूर्ण श्रद्धा रख, वे तुझे उत्तमोत्तम वस्तुएँ प्रदान करेंगी। तू साक्षात् पारस है; जिस वस्तुको स्पर्श करेगा, अपनी आत्माकी शक्तियोंद्वारा अवश्य स्वर्णवत् कर देता है। तेरा मन 'कल्पवृक्ष' है। वह तेरी आज्ञाओंका पालन करेगा। तू तो अमृतस्वरूप है। तेरी तेजस्विनी बुद्धि प्रतिबन्धके इस पारसे उस पार प्रविष्ट हो जायगी।' इस प्रकारकी स्फूर्तिदायक शिक्षा पाया हुआ युवक संसारका संचालन करता है। उसके दर्शनमात्रसे मृतप्राय व्यक्तियोंमें नवजीवनका संचार होता है। संसार ऐसे व्यक्तिका मार्ग स्वयं साफ कर देता है। दुनियामें वे अपनी अभिरुचि, आत्मश्रद्धाका प्रकाश करते हैं।

संसारकी विद्याओंमें वही विद्या सर्वोपरि है, जो हमें पोषकशक्तिका संचय करना सिखाती है तथा जीवनको स्थायी सफलतासे विभूषित करती है।

एक दूसरा युवक है, जिसे इस विद्याका तनिक भी ज्ञान नहीं है और जिसके कारण उसका सामर्थ्य क्षय हो चुका है। जो निषेधात्मक वायु-मण्डलमें—दुःख, लाचारी, संकीर्णताके संकुचित मनःक्षेत्रमें बड़ा

हुआ है। ऐसा व्यक्ति अपने विचार भी अत्यन्त कमजोर रखता है। वह मन-ही-मन कहता है कि 'मैं बेकार हूँ, निर्बल हूँ। समृद्धि! तू मुझसे दूर रह। मैं इस योग्य नहीं कि तुझे प्राप्त कर सकूँ। मेरा जीवन वेदना, लाचारी और शंकाका जीवन है। मैं नाचीज हूँ, तुच्छ हूँ, क्षुद्र हूँ।' जो व्यक्ति ऐसी शिक्षा पाकर संसारमें प्रवेश करता है, उसका सर्वनाश दूर नहीं है। मनको संकीर्ण रखनेसे विचारोंमें वास्तविक शक्ति उत्पन्न नहीं होती। उसके संशय-भय, उसके आत्मविश्वासकी न्यूनता, उसकी डरपोक और निषेधात्मक शिक्षा-दीक्षा उसकी कार्यशक्तिको पंगु बना देते हैं।

आन्तरिक प्रदेशमें नैसर्गिक रीतिसे चलनेवाली आध्यात्मिक क्रियाकी ओर मानस नेत्र एकाग्र रखनेसे विचारोंमें यथार्थता उत्पन्न हो सकती है। बलात् अथवा अत्यन्त आग्रहसे या केवल ऊपरसे की हुई क्रियाएँ मनको बलवान् नहीं बना सकतीं। शक्तिशाली मन एक शक्ति अथवा सामर्थ्य है; क्योंकि आन्तरिक मनमें जो कुछ भी अमर्यादित है, उसे यह बाहर प्रकाशित करता है।

विश्वमें सबसे अधिक महान् कार्य अपने वास्तविक स्वरूपको पहचानना है। मनुष्यका शरीर कदाचित् लघु प्रतीत होता है, परन्तु उसका मन विश्वका एक महान् आश्चर्य है।

'आत्मबन्धो! तुम एक अल्पज्ञ जीव—एक निःसत्व परमाणु नहीं हो। तुम हाड़-मांसके शरीर ही नहीं हो, जीव ही नहीं हो, क्षुद्र या संकुचित नहीं हो; वरं आत्मा—महान् आत्मा—परम आत्मा हो। तुममें दैवी अंश विद्यमान है। पूर्णता भरी हुई है। तुम दैवी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हो। तुम्हारी अद्भुतता और विशालता सर्वोच्च है। तुम ईश्वरकी सर्वोत्कृष्ट विभूति हो।'

तुम्हें चाहिये कि तुम अपनी भावनामें परिवर्तन करो। अपनी हीनत्वकी भावनापर विजय प्राप्त करनेके लिये मनके विभिन्न व्यापार देखनेवाले द्रष्टा बनो। सर्वप्रथम अन्तःकरणमें जमी हुई निम्न प्रवृत्तिका

उन्मूलन करो। फिर तुम जितना भी उच्च सोच सकते हो, जितना उत्कृष्ट आदर्श समुपस्थित कर सकते हो, जितना निर्मल हितकारक प्रकाश उद्‌भासित कर सकते हो; उतना करो। जैसे-जैसे तुम हितकी भावनापर चित्त एकाग्र करोगे, वैसे-वैसे तुम मनके सामर्थ्योंको प्रकट करोगे और विशेषरूपसे महान् बनते जाओगे। हितैषी विचारोंपर आरूढ़ रहनेसे, उनका आविष्करण करनेसे मनुष्यकी अभिवृद्धि होती है। तुम चाहे संसारमें किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, हितैषिता सदैव कल्याणकारी है। जब तुम अपने अन्तस्तम प्रदेशमें पूर्णरूपसे शुभ भावना जाग्रत् कर लोगे, विद्युत्-वेगसे प्रवाहित होनेवाली मनकी क्रियाको हितैषिताकी दिव्य ज्योतिसे देदीप्यमान कर सकोगे, तब तुम्हें पूर्ण ज्ञान तथा अपूर्व शान्तिका अनुभव होगा। हितैषिताकी भावनाद्वारा जितने अंशोंमें हम अपने जीवनका विकास कर सकेंगे, उतने ही अंशोंमें उसका यथार्थ उपयोग भी कर सकेंगे।

जो मनुष्य अपने अन्तःकरणकी निकृष्ट भावनाओंको तिलांजलि देकर उच्च आत्मप्रदेशमें प्रविष्ट हो जाता है, वह अपने हृदयमें प्रवाहित होनेवाले गुप्त सामर्थ्यके अवरुद्ध स्रोतको पुनः तीव्र कर देता है। विचारोंको उत्पन्न करनेवाली कल्पना-शक्ति मनकी सृजनशक्ति है—यदि हमें उच्च विचारोंका निर्माण करना है और विशेष विशाल वस्तुओंकी रचना करनी है तो हमें अपनी कल्पना-शक्तिको निर्मल, हितकारक तथा उदार बना लेना चाहिये। यह अवस्था शनैः-शनैः अभ्याससे प्राप्त होती है। जब-जब अनिष्ट मनोवेग चित्तको व्याकुल करते हैं, तब-तब द्रष्टा मनसे पृथक् होकर दुष्कामनाओंके प्रवाहपर अपने ज्ञानचक्षु स्थिर करता है। इससे दुर्विचार शृंखला टूट जाती है और समस्त मानस-व्यथाओंका अन्त हो जाता है।

तीव्र प्रवाहमें प्रभावित क्षुद्र तिनकेकी तरह बहावमें यों ही बह जानेके लिये तुम नहीं बने हो। तुम महान् पिताके महान् पुत्र हो। तुम्हें पुष्ट हाथ-पैर प्राप्त हैं, जिनके द्वारा तुम स्व-पथ निर्माण करते हो।

तुम्हें उत्कृष्ट मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनसे तुम अपना लक्ष्य निश्चित कर सकते हो। स्वयं अपने भाग्यकी रचना करते हो। भाग्यचक्रकी ऋजु अथवा कुटिल गतिमें तुम्हारा अपना ही उत्तरदायित्व निहित है। तुम जो बोते हो, वही काटते हो। अपनी उन्नतिके पर्वतपर तुम्हें खुद अपनी सहायतासे चढ़ना है। तुम्हारे मस्तिष्कमें जिस अद्‌भुत प्रतिभाके बीज पड़े हैं, उन्हें स्वयं ही उद्योगके बलसे तुम्हें अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित करना है। अपनी आत्माको तुम्हें स्वयं ही जाग्रत् करना है। मनोविकारोंके तूफानसे तुम स्वयं ही अपने-आपको मुक्त कर सकते हो। जबतक तुम आत्मतेजको प्रकट नहीं कर लेते, तबतक बाहरकी कोई शक्ति तुम्हारी सहायता न करेगी।

संसारके अन्य उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न महापुरुषोंने जो अद्‌भुत कार्य किये हैं, उन-जैसे कार्योंका सम्पादन करना कदापि दुष्कर नहीं है। विचार करो, सोचो—तुम किस बातमें पिछड़ रहे हो? तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि परमेश्वरने सबको समान शक्तियाँ प्रदान की हैं। ऐसा नहीं कि किसीमें अधिक या न्यून हों। परमेश्वर किसीके साथ अन्याय नहीं करता। सब शक्तियाँ तुम्हारे अन्दर विद्यमान हैं। तुम उन्हें जाग्रत् करनेका कष्ट नहीं करते। किसी विशेष शक्तिसे कार्य न लेकर तुम उसे कुण्ठित कर डालते हो। दूसरी ओर किसी विशेष दिशामें अपनी शक्तिका प्रवाह मोड़कर तुम उसे अधिक परिपुष्ट एवं विकसित कर लेते हो। निज शक्तियोंका जाग्रत् तथा विकसित कर लेना अथवा उन्हें शिथिल, पंगु, निश्चेष्ट बना डालना स्वयं तुम्हारे ही हाथमें है। स्मरण रखो, संसारकी प्रत्येक उत्कृष्ट वस्तुपर—हर एक प्रतिभासम्पन्न आश्चर्यचकित कर देनेवाली वस्तुपर तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। यदि तुम अपने मनके गुप्त महान् सामर्थ्योंको जाग्रत् कर लो और लक्ष्यकी ओर प्रयत्न, उद्योग और उत्साहपूर्ण आग्रहसे अग्रसर होना सीख लो तो जैसे चाहो आत्मनिर्माण कर सकते हो। मनुष्य जिस वस्तुकी आकांक्षा करता है—उसके मनमें जिन महत्त्वाकांक्षाओंका

उदय होता है और जो आशापूर्ण तरंगे उठती हैं, वे अवश्य पूर्ण हो सकती हैं—यदि वह दृढ़ निश्चयद्वारा अपनी प्रतिभाको जाग्रत् कर ले।

अतएव प्रतिज्ञा कर लीजिये कि चाहे जो कुछ हो, आप एक कार्य अवश्यमेव करेंगे। वह यही कि अपनी शक्तियोंको ऊँची-से-ऊँची बनायेंगे। प्रत्येक दिन अपनी योग्यता, अपनी विलक्षणतामें अभिवृद्धि करते रहेंगे, आत्मामें जो ईश्वरीय गुण विद्यमान हैं, उनपरसे अविद्याका आवरण उठाते रहेंगे और इस प्रकार अपने यथार्थ स्वरूपसे पूर्ण परिचित हो जायेंगे।

नवीन भावनाकी सृष्टि कर लेना ही आत्मप्रतीतिके मार्गमें नया कदम उठाना है। तुम अपने विचारोंमें परिवर्तन करो अर्थात् निज अन्त:करणकी स्थायी वृत्तिको बदल दो! अभीतक तुमने जिन संकीर्णता—सीमाबन्धनकी संकुचित भावनाओंमें अपना जीवन व्यतीत किया है, उनके स्थानपर समृद्धिकी नवीन भावनाएँ दृढ़ करो। नये विचार, नयी भावनाएँ, नया दृष्टिकोण तुम्हें कहाँ प्राप्त हो सकेगा? उसके लिये सर्वप्रथम अपने मनको टटोलो। अपने-आपसे स्वयं प्रश्न करो, गम्भीरतापूर्वक विचार करो, चिन्तन करो। तुम्हारी हार्दिक अभिलाषाएँ तुम्हारे उत्पादक अन्तर्बलको उत्तेजित करती हैं। वे तुम्हारी शक्तियोंको परिपुष्ट करती हैं। अपनी आन्तरिक महत्त्वाकांक्षाओंको स्पन्दन देनेसे वे स्वयं ही तुम्हें प्रशस्त मार्ग दिखा देती हैं। उत्तम पुस्तकोंका अध्ययन करो, उनमें अपने प्रश्नोंके उत्तर खोजो। सत्संग करो और ऐसे व्यक्तियोंसे शंका-निवारण करो, जो मनकी उच्च भूमिकामें निवास करते हैं। परमेश्वरकी अनन्त शक्तिकी छायामें जीवन-वृक्षको विकसित करो। जीवनकी सबसे उत्कृष्ट भावनामें रमण करो। जीवनके जिस स्थलमें पड़े हो, उससे असन्तुष्ट हो जाओ। अपनी लाचारीकी, निर्धनताकी, मूर्खताकी परिस्थितिको तिलांजलि दे दो और जीवनको स्वतन्त्रताकी सुमधुर सुगन्धसे सुवासित करो। विचारोंको ऊँचा उठाओ। मनोमन्दिरके प्रवेशद्वारको दिव्य और उत्कृष्ट वस्तुओंके

लिये खोल दो।

निशाना मारते समय निशानची कुछ आगेको मारते हैं, तब वह यथार्थ स्थानपर लगता है। तुम अपने जीवनको जैसा निर्माण करना चाहते हो, उसकी सर्वोत्कृष्ट प्रतिमा, सबसे उत्तम स्वरूप, अच्छे-से-अच्छा नमूना अपने सम्मुख रखो और फिर सुईकी तरह अपने आदर्शकी पूर्तिमें लग जाओ।

अनेक पुरुष तनिक-सी प्रतिकूलता उपस्थित होते ही अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि विकट स्थिति, प्रतिकूलताके अवसर, दरिद्रता एवं विघ्न आदि कारणोंसे ही मानवजातिको उन्नतिकी उत्तेजना मिली है। ऐसे ही प्रसंगोंमें मनुष्यका असामान्य पराक्रम प्रकट हुआ है। स्थूल दृष्टिसे तो ऐसे प्रसंग अनिष्ट जान पड़ते हैं, किंतु वस्तुतः इन्हींसे मनुष्यका बड़ा भारी हितसाधन होता है। सामान्य प्रसंग और साधारण जीवनसे मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियोंका विकास नहीं होता। यदि मनुष्यको प्रतिघातकी उत्तेजनाके अवसर न मिलें तो गुप्त शक्तियाँ कदापि प्रकट न हों। ये शक्तियाँ इतने गहन स्तरमें निवास करती हैं कि सामान्य कारणोंसे उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उनके लिये ऐसे कारण अपेक्षित हैं, जो मर्मस्थानपर चोट करें।

मैंने अनेक व्यक्ति ऐसे देखे हैं जिनमें अनेक प्रकारकी योग्यताएँ एवं शक्तियाँ हैं, किंतु वे जहाँ-के-तहाँ पड़े हैं। तिलभर भी आगे नहीं बढ़े। उन्होंने अपनी शक्तियोंका प्रकाश नहीं किया। उन्हें उनका यथार्थ ज्ञान भी नहीं है। जिस प्रकार व्यायामद्वारा हम अपने शरीरके प्रत्येक अवयवको बलवान् बना सकते हैं—निर्बल और पतले-दुबले हाथ-पैर सबल और दृढ़ बनाये जा सकते हैं, निर्बल फेफड़े भी बलवान् बन सकते हैं और कमजोर यकृत्की भी जठराग्नि तीव्र कर सकते हैं, उसी प्रकार हम अपने मनमें निवास करनेवाली तर्कशक्ति, तुलनाशक्ति, स्मरणशक्ति, लेखनशक्ति, काव्यशक्ति, उद्योगशक्ति, इच्छाशक्ति आदि सैकड़ों शक्तियोंका विकास कर सकते हैं। यदि हम हितैषिताकी

भावनाको लेकर अग्रसर हों और उनके अनुकूल संगति और परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दें तो अवश्य ही हममें विलक्षण परिवर्तन हो जायगा। यदि मनुष्य हमेशा अपने सम्बन्धमें आशापूर्ण, शुभसूचक भाव रखें, सदैव उन्हीं हितकर भावनाओंको मनोमन्दिरमें आने दें तो उन्हें अपनी कार्य-शक्तिकी वृद्धि होती प्रतीत होगी। जहाँ मनुष्यने सौभाग्यशाली शुभ चित्रोंको देखनेकी आदत बना ली कि उनके विपरीत परिणामवाली आदत स्वयं नष्ट होने लगेगी। यदि हमारे देशके नवयुवक उक्त प्रकारकी शुभ दृष्टिका अभ्यास कर लें तो मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ हमारी अपूर्व अभिवृद्धि होगी।

आप चाहे जो कार्य हाथमें लें, आप चाहे किसी भी दिशामें अग्रसर हों रहे हों, अपने निज जीवनके विषयमें चाहे जो आदर्श स्थापित किये हों, सफलताके लिये केवल एक बातपर विशेष ध्यान रखिये। 'सदा-सर्वदा हमारा हित ही होगा; हमारा लाभ, हमारी विजय, हमारी सिद्धि ही होगी'—ऐसी भावनापर विचार दृढ़ रखनेसे आपकी आधी लड़ाई फतह हो जाती है। उच्चाभिलाषा सर्वप्रथम आत्मप्रेरणाके रूपमें परिणत होती है, तदुपरान्त उसे सिद्धिका स्वरूप प्राप्त होता है। इस प्रसंगमें निश्चयात्मक प्रकृतिसे बड़ा लाभ होता है। निश्चयात्मक प्रकृतिवालेकी चित्त भी और पट्ट भी। उसमें वह शक्ति रहती है कि चारों ओरसे उसकी विजय-ही-विजय है। इससे मनुष्य मनचाहा कार्य सरलतापूर्वक कर सकता है। जो अपने आत्मविश्वासको खो देते हैं, उनकी निश्चयात्मक प्रकृति निषेधार्थक प्रकृतिमें परिवर्तित हो जाती है। उनकी निर्णय करनेकी शक्तिका भी ह्रास हो जाता है। अतएव प्रत्येक परिस्थितिमें अपने आदर्शोंपर दृढ़ रहो। अपने शरीरको, आत्माको, मनको परिपुष्ट और पूर्ण करते रहो, उसमें दिव्यता लाते रहो, आनन्द-उत्साह और तेजकी वर्षा करते रहो। यही सब विद्याओंमें सर्वशिरोमणि विद्या है।

हित-प्रेरक संकल्प

प्रतिदिन रात्रिमें निद्रासे पूर्व एकान्त स्थानमें शान्तचित होकर बैठ जाओ। शरीरको निष्क्रिय कर लो और मनको सब विचारोंसे हटाकर हितप्रेरक संकल्पोंपर एकाग्र करो।

'मैं अब अनुभव करने लगा हूँ कि मेरा असत्-चिन्तन कितना भयंकर शत्रु है। मैंने अपने विषयमें तुच्छ विचार रखकर अपने साथ बड़ा अत्याचार किया है। मेरी आत्मा ईश्वरसे अभिन्न है। ईश्वर सर्वत्र वर्तमान है। साक्षात् आनन्दस्वरूप, सच्चिदानन्दरूप ईश्वर मेरे अन्तरमें वर्तमान हैं। मेरा हृदय सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, प्रभुका परम पवित्र मन्दिर है। अत: उसमें भय, चिन्ता एवं दुष्ट मनोविकार क्योंकर प्रलय मचा सकते हैं? ईश्वर तो पूर्ण निर्भय, नि:संग एवं सर्वथा निष्पाप हैं। मैं उनका बालक हूँ, अत: मैं भी पूर्ण निर्भय हूँ, पूर्ण नि:संग और निष्पाप हूँ। मेरे अन्दर सम्पूर्ण जगत्‌के प्रेरक तथा प्राण विश्वव्यापी भगवान् विराज रहे हैं। मैं आज अपनी मोहनिद्रासे जाग गया हूँ। आज मुझे अपने ईश्वरत्वका सम्यक् ज्ञान हुआ है।'

'मैं जान गया हूँ कि ईश्वर परम वीर्यमान् हैं, पूर्ण भाग्यवान् तथा असीम सामर्थ्यवान् हैं। मैं उनका अपना हूँ। मैं भी परम वीर्यवान् हूँ, पूर्ण भाग्यवान् हूँ, उसी प्रकार सामर्थ्यवान् हूँ। आज मैंने अपनी निकृष्ट भावनाओंको बहिष्कृत कर दिया है। अब मैं भयभीत नहीं होता, हानिसे विचलित नहीं हो जाता, संसारकी तंग गलियाँ मुझे अशान्त कदापि नहीं कर सकतीं।'

'ईश्वर पूर्ण निष्काम, निर्विषय तथा निर्विकार हैं। मेरी आत्मामें वही दिव्य प्रवाह प्रवाहित हो रहा है। वही तत्त्व मुझे भी जीवन प्रदान कर रहे हैं। मैं भी पूर्ण निष्काम, निर्विषय एवं निर्विकार हूँ।'

सुख और स्वास्थ्यके लिये धन अनिवार्य नहीं है

बहुत-से व्यक्तियोंको यह भ्रम है कि स्वास्थ्य, शक्ति, सुख एवं आनन्दके लिये हमें धन चाहिये, किंतु उन्हें याद रखना चाहिये कि इसका वास्तवमें हमारे मनसे अधिक सम्बन्ध है। यदि हमारे विचारों, हमारी अभिलाषाओं और हमारे अन्त:करणमें इनकी प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय है तो इनके प्राप्त करनेमें धनकी कमी हमारे लिये बाधक नहीं हो सकती। जो गरीब हैं और स्वास्थ्य तथा सुखका आनन्द लूटना चाहते हैं, उनको अपनी किसी भी अवस्थामें हतोत्साह न होना चाहिये। स्वास्थ्य और सुख वह दैवी तत्त्व हैं जो संसारके विषम और कलुषित वातावरणसे बहुत ऊँचे हैं और प्रत्येक जीवनमें हम सब इनका आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

रुपयेसे क्या मिलता है और क्या नहीं

प्रिय पाठक! रुपयेसे सुन्दर स्वादिष्ट पकवान, मिठाई, बढ़िया भोजन खरीद सकते हो पर 'भूख' नहीं। भूख ढेर-के-ढेर रुपये देनेपर भी बाजारमें नहीं मिलेगी। रुपयेसे शक्तिवर्धक अनेक पदार्थ एक-से-एक चटकीले मानकी दवाइयाँ मिलेंगी, पर 'शक्ति' नहीं। शक्तिके लिये आपको परिश्रमका धन व्यय करना होगा। धनसे आप ऐश्वर्यशाली बन सकेंगे पर सच्चा आनन्द और 'शान्ति' कदापि न मिल सकेगी। रुपयेसे चश्मा मिलेगा, पर 'दृष्टि' नहीं; कोमल शय्या मिलेगी, पर 'निद्रा' नहीं; निस्तब्धता मिलेगी, पर 'हार्दिक संतोष' नहीं; अलंकार मिल सकेंगे, पर 'सौन्दर्य' नहीं; विद्या मिलेगी, पर 'विवेक' नहीं; नौकर मिल सकते हैं, पर 'सच्ची सेवा' नहीं; संगी-साथी अनेक इकट्ठे हो जायँगे, पर 'सच्चे मित्र' नहीं; ठकुरसुहाती बातें खूब मिलेंगी, पर 'प्रेम' नहीं। संसारकी उत्तम वस्तुएँ प्राय: बिना रुपये-पैसेके ही प्राप्त हुआ करती हैं। दुनियामें ऐसा कोई माप नहीं कि जिससे आनन्द, स्वास्थ्य, विवेक, प्रेम, निद्रा, शान्ति और शक्ति इत्यादि दैवी तत्त्वोंका मूल्य आँका जा सके।

जिनको स्वास्थ्य और सुखकी आवश्यकता है, उन्हें यह जानना चाहिये कि इनकी प्राप्तिके लिये हमें विशेषरूपसे इन पदार्थोंकी आवश्यकता है—(१) सादा भोजन, (२) स्वच्छ वायु और पर्याप्त प्रकाश, (३) प्रसन्नता, (४) सदाचार, (५) व्यायाम।

भोजनके पदार्थ ताजे और निर्दोष होने चाहिये। उनके बनानेमें पूर्ण रुचि और स्नेहका प्रयोग करना चाहिये। भोजनका उपयोगी होना मिर्च-मसालोंपर उतना निर्भर नहीं, जितना बनाने और तैयार करनेपर निर्भर है। यदि विधिपूर्वक बनाया जाय तो भोजन उत्तम बनता है और पेटभर खाया जा सकता है। शाकभाजी, हरी तरकारियाँ हमारे स्वास्थ्यको घी-मक्खनसे कहीं अधिक लाभ पहुँचाती हैं। धनी लोग स्वादिष्ट होनेके कारण इतना खा जाते हैं कि उनकी पाचन-शक्ति ही खराब हो जाती है। अधिक भोजन रोगोंको बढ़ानेवाला, आयुको घटानेवाला, नरक पहुँचानेवाला और निन्दित कार्य करानेवाला है। गरीब व्यक्ति साधारणतः कम खायगा, धीरे-धीरे खायगा और शान्तिसे खायेगा, जिससे उसकी प्राणशक्ति बढ़ेगी। सच बात तो यह है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। (छान्दोग्य० ७। २६। २)

अर्थात् आहारकी शुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि होती है, सत्त्व-शुद्धिसे बुद्धि निर्मल और निश्चयात्मिका बन जाती है, फिर पवित्र तथा निश्चयात्मिका बुद्धिसे मुक्ति भी सुलभतासे प्राप्त होती है। सुख और स्वास्थ्यके लिये नित्य नियमित समयपर खूब चबा-चबाकर शान्तिपूर्वक सात्त्विक अल्पाहार किया करें तो बिना रुपयेके आपको शक्ति मिलेगी।

हमारे जीवनमें दूसरी आवश्यक वस्तुएँ हैं—स्वच्छ वायु और पर्याप्त प्रकाश। गंदी वायुसे बीमारियोंके कीटाणु हमारे शरीरमें प्रवेश कर हमारे स्वास्थ्यको बिगाड़ डालते हैं। शहरोंमें प्रायः नब्बे प्रतिशत व्यक्ति ऐसे अँधेरे घरोंमें रहते हैं, जहाँ न साफ हवा आती है न रोशनी। आरोग्य, बल तथा उत्तम पाचन-शक्ति चाहनेवाले मनुष्यको घरमें ताजी तथा शुद्ध हवा, जितनी ज्यादा हो सके आने देनी चाहिये, जहाँतक

हो सके जंगलकी खुली हवामें समय बिताना चाहिये। अपने सोने तथा बैठनेके कमरेमें हवाको प्रवेश करनेकी ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिये कि दूषित हवामें साँस न लेना पड़े। प्रकृतिने मनुष्यको हवाका प्राणी बनाया है, न कि घरमें बँधा हुआ दिनोंको धक्के देनेवाला जानवर। याद रखिये—जिस घरमें सूर्यका प्रकाश और धूप नहीं पहुँचती, वहीं डॉक्टर और वैद्यराज पधारा करते हैं। धूपकी किरणें लाखों डॉक्टरोंसे अधिक उपयोगी हैं। गरीबलोग भी इन्हें जितना चाहे ले सकते हैं। मनुष्यको इस बातका गर्व होना चाहिये कि उसका घर हवादार स्वास्थ्यवर्द्धक है और उसमें पर्याप्त प्रकाश आता है।

तीसरी बात सदा शान्त और प्रसन्न रहना है। संसार वर्तमान युगमें जितना अशान्त हो गया है, उतना कभी नहीं रहा। संसारकी झंझटोंमें हम इतने उलझ गये हैं कि हमें पर्याप्तरूपसे आराम (Plenty of Rest) नहीं मिलता और तरह-तरहकी चिन्ताएँ खाये डालती हैं। हम सभी हँसी-खुशीसे रहना चाहते हैं पर ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं, जो वस्तुतः प्रफुल्ल रह पाते हैं। प्रसन्नता प्रत्यक्ष और शीघ्रतम लाभ है। वह अन्य सिक्कोंकी तरह केवल बैंकका सिक्का नहीं वरं प्रत्यक्ष सिक्का है। धन प्रसन्नताका सबसे छोटा साधन है और स्वास्थ्य सबसे अधिक; आप चाहें तो गरीब रहकर भी हँसते-हँसते अपना मार्ग तय कर सकते हैं।

चौथी बात है सदाचार। जिसके जीवनमें दुराचार है उसके शरीरमें स्वास्थ्य और जीवनमें सुखका दर्शन नहीं हो सकता। यदि ईश्वर और शासकका भय न हो तो भी पाप नहीं करना चाहिये। यही सब सदाचरण है। जो मनुष्य अन्तःकरणकी शिक्षापर सदैव ध्यान देते हैं, उसके विरुद्ध कोई कार्य नहीं करते, उनकी अन्तरात्मा बड़ी प्रबल हो जाती है। वह उनके लिये पथ-प्रदर्शकका काम करती है और उन्हें पददलित होनेसे बचाती है। मस्तिष्कका विकास हमें एक पग भी ईश्वरकी ओर नहीं बढ़ा सकता, जबतक उसमें संयम, इन्द्रियदमन और अन्तःकरणकी पुकार न हो। अन्तरात्माको जाग्रत् करनेके लिये रुपये-पैसेकी आवश्यकता नहीं है।

व्यायाम हमको सदा नवजीवन, शक्ति और सुख प्रदान करता है। जिस प्रकार हमें खाने-पीनेकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार व्यायामकी भी आवश्यकता होती है। हमारे पास करोड़ोंका धन हो, संसार हमारी प्रतिष्ठा करता हो, परंतु यदि हम रोगी रहते हैं तो यह सब कुछ विषके समान है। सुख धनसे बहुत कम प्राप्त होता है, परंतु व्यायामसे सबसे अधिक। व्यायामसे दीर्घायु होती है, शरीर हलका रहता है, पाचन-शक्ति ठीक रहती है और फेफड़े मजबूत बनते हैं। व्यायामसे मन नीरोग, निर्विकार और पुष्ट बनता है और सम्पूर्ण नीच इन्द्रियाँ फीकी पड़ जाती हैं। आत्मोद्धार चाहनेवालोंको ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर नित्य नियमितरूपसे प्रातः या सायंकाल शक्तिके अनुसार अवश्य व्यायाम करना चाहिये।

ऊपर जिन तत्त्वोंका उल्लेख किया गया है, उनके लिये धनकी आवश्यकता नहीं। इनका साधन और अभ्यास हमारे मनोभावों और इच्छाशक्तिकी दृढ़तापर निर्भर है। इनमेंसे कोई बात ऐसी नहीं, जिसके लिये हम अपने जीवनकी निर्धनताके कारण असमर्थ हों। स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त करना केवल अपने ऊपर निर्भर है। जो स्वास्थ्य चाहते हैं, सुखकी कामना करते हैं, उनको चाहिये कि रुपये-पैसेका पीछा करना छोड़ उन साधनोंको जाननेका प्रयत्न करें जो हमें ऊँचा उठानेवाले हैं। इसके लिये उन्हें प्राचीन ऋषियोंके बनाये हुए सत्यका अवलम्बन करना चाहिये। प्रकृति माताकी शरणमें जाना चाहिये। रात-दिन रुपया-रुपया चिल्लानेके स्थानपर जीवनका प्रकृत-तत्त्व क्या है, वह किन बातोंसे उन्नत, विकसित और प्रौढ़ बनता है, यह जानना चाहिये।

मेरा विश्वास है कि गरीबी, निर्धनता, ऊँचाई, गहराई—कोई भी हमें ईश्वर-प्रदत्त स्वास्थ्य-सुखसे दूर नहीं रख सकती। अनन्त जीवनसे हमारी एकता है। हम और परमपिता एक हैं। हम आकस्मिकता और भाग्यके गुलाम नहीं हैं, बल्कि उसका संचालन करनेवाले हैं। हम उसके स्वामी हैं। प्रिय पाठक! आप अपनी आत्माके सत्यको पहचानिये, वह सत्य आपको धनके क्षुद्रत्वसे मुक्त कर देगा।

चिन्ता एक मूर्खतापूर्ण आदत

गणना-शास्त्रसे हमें ज्ञात होता है कि चालीस प्रतिशत हमारी चिन्ताएँ ऐसी वस्तुओंके सम्बन्धमें होती हैं, जो कभी घटित नहीं होतीं। तीस प्रतिशत ऐसी वस्तुओंके विषयमें होती हैं, जिनके सम्बन्धमें कुछ किया ही नहीं जा सकता और बाईस प्रतिशत ऐसी होती हैं, जो कि क्षुद्र और अनावश्यक होती हैं। जिस समय हम अपनेको इन मूर्खतापूर्ण चिन्ताओंमें उलझा लेते हैं, उस समय क्या हम ऐसे अधिक महत्त्वपूर्ण और जीवनमें उत्कर्ष उत्पन्न करनेवाले विषयोंकी उपेक्षा नहीं करते? जिनपर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। चिन्ता हमारे बोझको भारी बना देती है, हलका करनेमें तनिक भी सहायता नहीं करती।

मनुष्य भार उठानेमें नहीं मरता, अपनी शक्तिसे अधिक भार वहन करनेसे वह मृत्युको प्राप्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति मरनेसे पूर्व निराशावादी-सा हो जाता है। कारण, वह अनेक प्रकारकी जिम्मेदारियाँ और चिन्ताएँ अपने आन्तरिक मनपर महसूस करता है। मनुष्यका बाह्य मन तो संसारकी जिम्मेदारियोंको निभानेमें लगा रहता है; आन्तरिक मन उनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहता है।

जिम्मेदारियाँ और चिन्ताएँ धीरे-धीरे बढ़ती हैं। यदि आप बच्चे हैं तो आपकी जिम्मेदारी आपके माता-पितापर है। यदि आप होश सँभालते हैं तो धीरे-धीरे उत्तरदायित्वका भार अनुभव करते हैं। आप देखते हैं कि आपके माता-पिता निर्धन हैं। अर्थाभावका पर्वत आपपर पड़ा है। आप भी उसमें पिस रहे हैं! आप देखते हैं कि आपकी माता, पिता, भाई या कोई कुटुम्बी बीमार रहता है। आपका हृदय सहानुभूतिसे भर जाता है। आप उनके कष्टोंको दूर करना चाहते हैं। एक नयी जिम्मेदारी आपपर सवार हो जाती है।

विवाह जिम्मेदारियोंका पुलन्दा है। यह चिन्ताकी पहली रेखा है।

विवाहका अभिप्राय है एक दूसरे व्यक्तिका बोझ अपने ऊपर सँभालना। यह आयुपर्यन्त आपपर बना रहनेवाला है। यदि पत्नी मूर्ख, अशिष्ट, अशिक्षित या कलहप्रिय है तो जिम्मेदारीके साथ एक नयी चिन्ता आपके ऊपर छायी रहती है।

संतानकी वृद्धि नयी-नयी जिम्मेदारियाँ आपपर लादती जाती हैं। प्रत्येक संतान आपके ऊपर असंख्य छोटी-बड़ी जिम्मेदारियाँ लादती जाती हैं। आप यदि कई पुत्रियोंके पिता हैं तो उनकी शिक्षा तथा विवाहकी असंख्य चिन्ताएँ आपपर चढ़ी रहती हैं। यदि आप किसी सम्बन्धीका बालक घरमें रखते हैं तो एक नयी जिम्मेदारी मोल लेते हैं। इसी प्रकार घरमें मवेशी पालना, कुत्ता, बिल्ली, तोता, मैंना या और कोई पक्षी पालना आपके अन्तर्मनके भारकी वृद्धि करना है। फैशन, टीप-टाप, मोटर, घोड़ागाड़ी, आपमें अधिक दिखानेकी आदत क्रमशः चिन्ताओंकी वृद्धि किया करते हैं।

मनुष्यकी मानसिक परेशानियोंका कारण ये ही गुप्त जिम्मेदारियाँ हैं। वही मनुष्य उन्मुक्त है, जो इन सभ्यताके बन्धनोंसे दूर रहता है। सांसारिक मोह, तृष्णा, इच्छा, व्यर्थकी जिम्मेदारियोंका त्याग करना ही दीर्घ जीवन तथा आन्तरिक प्रसन्नताका चिह्न है।

प्रो० लालजीराम शुक्लने एक बड़ा रोचक वृत्तान्त लिखा है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि जिम्मेदारियों और चिन्ताओंसे मुक्त होनेसे जीवनकाल बढ़ जाता है। आप लिखते हैं—

'कुछ दिन पूर्व डा० भगवानदास बीमार पड़े। आस-पासके लोग तथा वे स्वयं सोचने लगे कि अब उन्हें परलोक जाना है। इसके कारण उन्होंने अपनी जिम्मेदारियोंको अपने पुत्रों और अन्य सम्बन्धियोंमें बाँट दिया। अपनी पुस्तकोंकी तथा अपने अन्य द्रव्यकी भी व्यवस्था कर दी। इस प्रकार जब अपनी जिम्मेदारियोंसे उनका मन मुक्त हो गया तो वे स्वस्थ हो गये। उनका जीवनकाल बढ़ गया। धीरे-धीरे उन्होंने स्वास्थ्यलाभ कर लिया और अब वे मृत्युके लिये सदैव तैयार बैठे हैं;

पर मृत्यु स्वयं उनसे सहम गयी और उनसे अपना मुँह मोड़ लिया। वास्तवमें जो व्यक्ति मृत्युको भी अपना कल्याणकारी मानता है और उससे नहीं डरता, उसे अकाल मृत्यु नहीं आती। जब उसका काम पूर्ण हो जाता है, तभी उसकी इच्छासे पास आती है।'

आप अपनी जिम्मेदारियोंको कम करते जाइये। बच्चोंको स्वयं उनके पाँवोंपर खड़े होनेकी आदत डालिये। घरके खर्च दूसरोंके हाथमें दे दीजिये। अन्य काम भी दूसरे ही करते रहें, आपको किसी प्रकारकी चिन्ता न रहे अर्थात् घरको ऐसा कर दीजिये कि यदि आपको अपना हाथ खींच लेना पड़े, तब भी कुछ असुविधा उपस्थित न हो।

चिन्ताएँ तीन प्रकारकी होती हैं—शारीरिक, मानसिक और आर्थिक। इनमें आर्थिक चिन्ताएँ बड़ी विषैली हैं; क्योंकि इन्हींसे शरीर भी जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। कर्ज किसीसे न लीजिये। अपनी आयके भीतर ही आवश्यकताओंकी पूर्ति करते रहिये। वृद्धावस्थाके निमित्त कुछ संग्रह अवश्य कीजिये। अन्यथा बुढ़ापेके साथ चिन्ता मिलकर मृत्यु समीप ले आयेगी।

व्यर्थके लेन-देन, सामाजिक ऊँच-नीच मिथ्या दिखावा, दूसरोंको प्रसन्न करनेकी चेष्टा, जानवर पालना, अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाते चलना, मुकदमेबाजी, अधिक संतान उत्पन्न करना, पुनः विवाह करना, दूसरोंके बच्चोंको अपने पास रखना, जायदाद या रुपया इकट्ठा करनेकी धुन—आन्तरिक मनपर व्यर्थका बोझ लादकर मनुष्यकी असामयिक मृत्युका कारण बनती है।

जीवनका यह सूनापन!

'मुझे जीवनमें बड़ा अकेलापन-सा प्रतीत होता है। सूनापन काटे नहीं कटता, मैं प्राय: अकेला-अकेला रहता हूँ, कोई मुझसे बोलता नहीं, बातें नहीं करता, मुझसे मित्रता नहीं करता। क्या मनुष्योंकी भीड़-भाड़से भरे हुए जगत्‌में मैं सूना-सूना ही, एकाकी रहूँगा? मेरा मन जीवनसे उचट गया है। क्या मुझमें कोई भी गुण नहीं है? क्या मेरी ऐसी कोई भी विशेषता नहीं, जिससे मैं दूसरोंको आकृष्ट कर सकूँ? जीवन मुझे एक ऐसा कारावास प्रतीत होता है, जिसमें किसी कैदीको एकान्तमें बन्द कर दिया जाय! उफ्! जीवनका यह सूनापन! मैं क्या करूँ?

मेरे एक पाठककी समस्या इस पत्रमें प्रकट हुई है। अंग्रेजीमें एक कहावत है किसीको एकान्त कारावास कर देना। नैपोलियनके युगमें कैदियोंको कोवेन्ष्ट्री नामक स्थानपर भेजकर एकान्त कारावास कर दिया जाता था। तबसे कोवेन्ष्ट्री भेजनेका अर्थ है, सब संगी-साथियोंके, समाज-परिवारसे पृथक् कर देना। अनेक व्यक्ति इसी प्रकार अपने-आपको पृथक् कर एकान्तके दु:खद कारावासमें पड़े रहते हैं।

आजके भौतिकवादी युगमें पड़ोसी एक-दूसरेको नहीं जानते, परिचय प्राप्त नहीं करते; अलग-अलगसे पड़े रहते हैं। प्रत्येक अपने कामसे काम रखता है। उनका जीवन स्वकेन्द्रित है। उन्हें दूसरोंमें कोई दिलचस्पी नहीं।

अकेलापन या सूनापन उत्पन्न करनेमें स्वयं हमारा ही दोष है। हम स्वयं ही जीवनकी शुष्कताके उत्तरदायी हैं। हम ही इसे दूर कर सकते हैं।

मनुष्य स्वभावत: मित्रता चाहते हैं। समाजकी भावना उनमें बड़ी उत्कट होती है। वे चाहते हैं कि परस्पर एक-दूसरेसे मिलकर एक-दूसरेके सुख-दु:ख, हर्ष-विषादमें हिस्सा बटाएँ, मित्रता उत्पन्न करें। वे सहयोग चाहते हैं, दूसरोंसे सहयोगकी आकांक्षा करते हैं। लेकिन

साथ ही कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो दैनिक कार्यके दास हैं। तेलीके बैलकी भाँति सुबहसे शामतक वही कार्य करते रहते हैं। सांसारिकताकी उधेड़-बुनमें संलग्न रहते हैं, एक छोटे-से मित्रताके दायरेसे संतुष्ट हो जाते हैं। यदि कोई उनकी मित्रताके दायरेमें आना चाहता है तो वे उसे पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान नहीं करते। यह नितान्त अनुचित है। ऐसा नहीं होना चाहिये! आप सोचकर देखिये, समाजमें रहकर यदि आप अपने पास आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिका ऐसे तिरस्कार करते जायँगे तो क्या होगा? सूनापन अवश्य आयेगा।

एक कविने लिखा है—

एकाकीपनका अन्धकार,
दु:सह है इसका मूक भार,
इसके विषादका रे न पार!

हमीं पूछते हैं, आखिर इस एकाकीपनका कौन जिम्मेदार है? इसे कौन उत्पन्न करता है? आपके जीवनमें जो कुछ अच्छा-बुरा है, स्वयं आपके द्वारा उत्पन्न किया हुआ है। एकाकीपन खुद आप पैदा करते हैं, तो उसे निकाल भी सकते हैं। इसका दु:सह भार आप स्वयं ही हलका कर सकते हैं। यदि जीवनके चतुर्दिक् आपको अगणित चीत्कारें प्रतीत होती हैं, क्षण-क्षण हृदय नि:संग, व्यर्थ, विफल प्रतीत होता है, प्राण विकल हैं तो इस दयनीय मन:स्थितिसे मुक्त होनेको तत्पर हो जाइये।

जो व्यक्ति किसी प्रकार भी आपसे दिलचस्पी रखता है अथवा जिसमें आपकी रुचि है, उससे सम्पर्क स्थापित कीजिये, रिश्ता बनाये रखिये और छोटे-छोटे प्रयत्नोंसे निरन्तर उसे जोड़ते चलिये। आपमें आत्मविश्वासकी कमी है। इसी कारण आप दूसरोंसे बच-बचकर रहते हैं। उनमें घुल-मिल नहीं पाते।

आप क्यों आत्मविश्वासकी न्यूनताका अनुभव कर रहे हैं? यह आपकी गलतफहमीके अतिरिक्त कुछ नहीं है। सच मानिये, यह

समझकर कि आपमें मौलिकता नहीं है, आप अपने साथ बड़ा भारी अत्याचार कर रहे हैं। आप अपने अन्दर विश्वास रखकर दूसरोंसे मिलें, बरतें, उनके जीवनमें प्रविष्ट हों, स्वयं अपने विश्वासों और विचारोंमें पूरी-पूरी आस्था रखें। जो कुछ सोचें आत्मविश्वासके साथ सोचें। ऐसी आदत पड़नेपर आप दूसरोंके समक्ष जाते हुए दृढ़ताका अनुभव करेंगे और एकाकीपनसे मुक्त होंगे।

मन्दिरों, साहित्यिक संस्थाओं, समाजमें रहनेवाली अनेक संस्थाओंका एक व्यावहारिक पक्ष होता है। प्रत्येक नगरमें आपको ऐसी साहित्यिक संस्थाएँ मिल जायँगी, जिनमें आप नये-नये मित्र पाकर एकाकीपन दूर कर सकते हैं।

सायंकाल स्कूल-कॉलेजों या प्राइवेट संस्थाओंमें शिक्षाका प्रबन्ध रहता है। इनमें थोड़ा-थोड़ा बचा हुआ समय व्यतीत करनेसे आप अकेलेपनको एक उन्नत कार्यमें व्यय कर प्रसन्नता प्राप्त कर सकते हैं।

स्मरण रखिये, व्यस्त रहना मानसिक स्वास्थ्यके लिये बड़ा उत्तम है। यदि आप व्यस्त रहें, कोई उन्नत कार्य करते रहें तो आप जीवनका सूनापन कदापि अनुभव न करेंगे।

खेल और मनोरंजनके अनेक कार्य मित्रता उत्पन्न करनेके नये स्थल हैं। टेनिस एक अच्छा खेल है। साइकिलद्वारा यात्राएँ बड़ी मजेदार होती हैं। आप इनके द्वारा प्रकृतिका साहचर्य भी प्राप्त कर सकते हैं।

नये व्यक्तियोंसे मत शरमाइये, उनसे बातें करते हुए हकलाने मत लगिये, वरं निधड़क होकर अपना दृष्टिकोण अभिव्यक्त कीजिये। एकाकीपन और दूसरोंसे अलग-अलग रहनेकी कमजोरी स्वयं आपकी एक मानसिक कमजोरी है। दूसरोंके सामाजिक जीवनपर लुब्धदृष्टिसे देखनेके स्थानपर स्वयं आप भी मिलनसार बननेका प्रयत्न कीजिये। बच्चों-जैसी अनुचित लज्जा या अपनी हीनताका दुर्भाव आपको पस्त न करे, यह ध्यान रखिये। शारीरिक कुरूपता या दुर्बलता ऐसे कारण

नहीं हैं, जो कि आपको दूसरोंसे पीछे रखें। सच मानिये, आपमें दूसरोंके सहयोगकी अपूर्व शक्तियाँ छिपी पड़ी हैं।

सूनापन और अकेलापनका कारण दूसरोंसे—जनता, पड़ोसी-मित्र, सांसारिक वस्तुएँ, मनोरंजनके कार्य इत्यादिसे सम्पर्कोंका अभाव है। यदि आप इन सम्पर्कोंकी वृद्धि करते चलें और उन्हें अक्षुण्ण बनाये रहें, टूटने न दें तो यह अकेलापन दूर हो सकता है। जो जितने अधिक सम्पर्क रखता है, वह उतना ही प्रसन्न रहता है। ये सम्पर्क एक प्रकारकी ऐसी खिड़कियाँ हैं, जिनमें होकर आप मानवके नये-नये रूप देखकर आन्तरिक भ्रान्ति और सन्तुलनका अनुभव कर सकते हैं। मनुष्य अपने बन्धु-बान्धवोंसे हिल-मिलकर ही प्रसन्नतासे जी सकता है, यह मत भूलिये।

नये ढंगसे जीवन व्यतीत कीजिये

चार्ल्स डिकेन्सने 'इटलीके चित्र' नामक पुस्तकमें तीन ऐसी स्त्रियोंकी चर्चा की है, जो इटली छोड़कर किसी नये देशमें जाकर रहने और जीवनको नये ढंगसे ढालनेके लिये इच्छुक थीं। वे किसी गर्म प्रदेशमें जाना चाहती थीं; किन्तु वे धार्मिक पुस्तकों, पुराने रूढ़िवादी विचारों और अतीतके संस्कारोंके कारण एक बन्दी-जैसा जीवन व्यतीत कर रही थीं। वे सदा बाहर जानेकी सोचती ही रहीं, किन्तु जा न सकीं। एक स्थानपर टिके रहनेका मोह सदा उन्हें जकड़े रहा।

क्या आप भी अतीतके मोह या स्थानके बन्धनका अनुभव करते हैं? क्या अपने अन्दर कुछ ऐसी जंजीरोंका अनुभव करते हैं, जो आपको पुरानी चीजों, स्थानों, विचारोंसे जकड़े हुए हैं? क्या आप अबाध और सृजनात्मक जीवन नहीं व्यतीत कर रहे हैं? क्या आप पुराने जीवनमें प्राप्त सामग्री, कार्य, वस्तु या ज्ञानसे संतुष्ट होकर निश्चेष्ट जडवत् हो गये हैं?

शाब्दिक दृष्टिसे हम अपने अनुभवका कुछ भी नहीं विस्मृत करते, वह हमारे गुप्त मनमें, किसी-न-किसी रन्ध्रमें निवास करता है। हमारा यह अनुभव दैनिक जीवनके किसी-न-किसी कार्यको अपने ढंगसे प्रभावित करता रहता है। उपयुक्त वातावरणमें स्वप्नों या हिप्नोटिक निद्रामें—हमारी ये अतीतकालीन स्मृतियाँ जाग्रत् होकर चेतनाकी सतहपर आ जाती हैं। हम अपने पुराने जीवन तथा अनुभवोंसे मुक्त नहीं हो पाते। हमारे मस्तिष्कका ऐसा ही आश्चर्यमय विधान है।

किन्तु निरन्तर अतीतके कटु-मृदु अनुभवोंमें निवास करना अपने मौजूदा जीवनको भी उसीसे परिचालित होते रहने देना मानसिक तथा नैतिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उचित नहीं है। विकास एवं परिपक्वता तथा मानसिक संतुलन तभी स्थिर रह सकता है, जब आप पुरानी बातोंको, पुराने कष्ट, दुःख, गलतियों तथा अविवेकपूर्ण कृत्योंको विस्मृत करके

आगे बढ़ें। अतीतको पीछे छोड़ दें। हमें आवश्यकता इस बातकी है कि हम पुरानी असफलताओं तथा गलतियों या अपनी दुर्बलताओंको भूलकर या उनकी अवहेलना कर नये ढंगसे जीवन व्यतीत करें।

जॉर्ज बेनफील्ड अतीतको भूलने तथा नये सिरेसे जीवन व्यतीत करनेकी सलाह देते हैं। आपने कुछ बड़े सुन्दर उदाहरण इस प्रकार दिये हैं—

'हाँ, मैं जानती हूँ, प्रिय—एक नवयुवती पत्नीने अपने युद्धसे लौटे हुए सैनिक पतिसे कहा, 'उस रेगिस्तान तथा युद्ध-स्थलमें आपकी सेनाकी टुकड़ी सर्वश्रेष्ठ रही होगी। आप तथा आपके संगी-साथी वीर रहे होंगे। किंतु अब तो आप एक शान्त नागरिकका जीवन व्यतीत कर रहे हैं। आपको युद्धकी पीड़ा, हाहाकार, कठिनाइयाँ, अभाव तथा पीड़ा भूल जाना चाहिये। जो बीता सो गया, सदाके लिये मर गया। जो मर गया, उस जीवनसे अनुचित मोह किस अर्थका है?'

यह सुनकर मानसिक तनाव तथा थकानसे चकनाचूर पति खिन्न होकर पत्नीपर बरस पड़ा। किन्तु पत्नीने अतीतको भूलकर जो नये सिरेसे नये प्रकार, नयी भावनाओं, सम्पर्कों, नयी उमंगोंवाला नागरिक जीवन बितानेका सुझाव पतिको दिया था, वह उचित मनोवैज्ञानिक सलाह थी।

युद्धकालमें युद्ध-भूमिपर लड़े थे या देशके शरणार्थी, जिन्होंने देशके विभाजनके युगमें असंख्य कठिनाइयाँ, अभाव और अत्याचार सहे हैं, उन्हें अतीतसे नाता तोड़कर नये सिरेसे जीवन व्यतीत करनेकी अतीव आवश्यकता है। नये जीवनके लिये पुरानी असफलताओंके विचारोंको छोड़ देना चाहिये।

अतीतके मधुर सुखमय स्थलों, अनुभवों या क्षणोंकी याद करना अपने मौजूदा जीवनके, आजके जीवनके सुखों, आनन्दोंको किरकिरा कर देना है। जो अब है, जीवनके जो बहुमूल्य क्षण अब हमारे पास हैं, क्यों न हम उनकी उपयोगिता समझें और उनका आनन्दमय

सदुपयोग करें ? उन तीरोंके लिये क्यों कलपते-कराहते रहें जो सदाके लिये हमारे हाथसे छूट चुके हैं।

एक प्रौढ़ विवाहित दम्पति उन प्रारम्भिक जीवनके मादक-मोहक सपनोंकी स्मृतिमें डूबकर दुःखी रह सकता है, जो उन्होंने जीवनके सुनहरे प्रभातमें एक-दूसरेके सम्पर्कमें व्यतीत किये थे। हम जानते हैं कि वे दिन वास्तवमें बड़े अच्छे रहे होंगे, किन्तु उनकी यादकी कसक वर्तमान जीवनको शूलमय क्यों बनाये? यदि यह दम्पति अपनी आजकी परिपक्व मित्रता, प्रेमकी गहनता, सुख-दुःखमें सहवासद्वारा प्राप्त आत्मसंतोषको महत्त्व प्रदान करे तो मौजूदा जीवन सुखी-संतुष्ट हो सकता है। उन्हें आनन्दके उन अवसरोंसे लाभ उठाना चाहिये जो आजका परिपक्व जीवन इन्हें प्रदान करता है।

पुरानी असफलताओंसे नाता तोड़ लेना ही हमारे मानसिक स्वास्थ्यके लिये उत्तम है, अन्यथा उनसे उत्पन्न आत्महीनता और आत्मग्लानि हमें स्नायविक दुर्बलताका शिकार बना सकती है। जिन व्यक्तियोंके प्रति आपकी नाराजगी है, जिनके प्रति आप ईर्ष्या करते हैं, जिन्होंने जीवनमें आपका कभी अनिष्ट किया है, उनके प्रति मनमें जो वैरभाव है, उन्हें तुरन्त निकाल दीजिये। नये सिरेसे उनसे सम्पर्क स्थापित कीजिये। यदि आप सद्भावनासे उनकी ओर आकृष्ट होंगे तो निश्चय जानिये, आपके नये सम्बन्ध मधुर बनेंगे।

आपसे पुराने जीवनमें जानकर अथवा अनजानमें जो गलती हो गयी थी, भला अबतक, आजतक उनके लिये चिन्तित रहनेसे क्या लाभ है? इससे मस्तिष्कको उर्वरा कल्पनाशक्ति और उत्पादक विचारधारा पंगु हो जाती है।

जिन गलतियोंके लिये आप वास्तवमें दुःखी हैं, उन्हें भविष्यमें कभी न दुहरानेका संकल्प कर नये सिरेसे जीवनको ढालिये।

क्या आपको ईसा महान्का वह वाक्य स्मरण है जो उन्होंने प्रायश्चित्त करनेवाले एक पापीको मूलमन्त्रके रूपमें दिया था। उन्होंने

कहा था— 'शान्तिमें प्रविष्ट होइये और भविष्यमें कभी ऐसा पाप न करनेका दृढ़ संकल्प कीजिये।' वास्तवमें अतीतको, उसके दुःख-कष्टोंको, पीड़ा-हाहाकार-असफलताओंको दफना दीजिये और नये सिरेसे उत्साह एवं नयी उमंगसे जीवन व्यतीत कीजिये।

नया जीवन व्यतीत करना कठिन नहीं है। नये सिरेसे अपना कमरा सजाइये। नया प्रोग्राम, हो सके तो नये वस्त्र, नयी पुस्तकें, नया वातावरण चुन लीजिये। जिन वस्त्रोंको अभीतक व्यवहार करते हैं, उन्हें छोड़कर नये कपड़े प्रयुक्त कीजिये। नये प्रकारका भोजन करना प्रारम्भ कीजिये। जीवनमें नया प्रोग्राम बनाकर वैचित्र्य उत्पन्न करना, विविधता लाना और पुरानी लीक छोड़कर नयी दिशामें चलना सरसता उत्पन्न करता है।

प्रत्येक दिन आपको पूर्णता, आशा और उत्साहकी ओर ले जा रहा है। सर्वत्र आपके लिये प्रसन्नता, आनन्द और सुख आ रहा है, फिर अतीतके शूल और कण्टकोंसे आपका क्या सरोकार?

जीवनको एक यात्रा समझिये। इसमें काँटेदार झाड़-झंखाड़ और कंकरीले-पथरीले स्थान भी हैं, तो मधुर पवनसे स्निग्ध हरित-पुष्पित उद्यान, कल-कल निनादित सरिताएँ और संगीतमय स्थल भी हैं। आनन्द अधिक है, प्रकाश और संगीत, यश, प्रतिष्ठा और समृद्धि अधिक है। उन्हींसे आपका निकट-सम्बन्ध है। अनन्त सुख-सौन्दर्यकी ओर आप प्रतिदिन आगे चल रहे हैं, फिर जीवनयात्रामें पीछे छूटे हुए कँटीले-पथरीले स्थलोंकी स्मृति रखनेकी क्या आवश्यकता है? जो अवसर हाथसे निकल गये उनके लिये हाथ मल-मलकर पछताना नये अवसरोंको भी हाथसे निकालना है।

कटु अतीतसे नाता तोड़कर नये ढंगसे, नये उत्साह और यौवनसे मधुर उल्लसित जीवन व्यतीत कीजिये।

अवकाश-प्राप्त जीवन भी दिलचस्प बन सकता है

तीस वर्षकी नौकरी करनेके पश्चात् रिटायर होनेवाला व्यक्ति प्रायः सोचता है कि हम विश्राम करेंगे, कुछ कार्यभार न होगा, जिम्मेदारियाँ न होंगी, मनपर बोझ न रहेगा, अतएव हमारा जीवन सुख-शान्तिमय रहेगा। दूर-दूरसे अवकाश-प्राप्त जीवन अपना एक अजीब आकर्षण लिये हुए होता है। सम्पूर्ण जीवनका माधुर्य जैसे उसमें संचित हो उठा हो!

किंतु ये कल्पनाएँ शीघ्र ही नष्ट होने लगती हैं। अवकाश-प्राप्त व्यक्तिका जीवन शीघ्र ही आलस्यसे भर जाता है। जो व्यक्ति तीस वर्षोंतक निरन्तर कार्यमें जुटा रहा है, उसके मनमें यह भावना आने लगती है, जैसे वह समाजका एक बेकार, आलसी, निकम्मा जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति है। जैसे उसके लिये, करनेके लिये कुछ भी शेष नहीं रहा है, उसका कार्य समाप्त हो गया है। लोग उससे मिलना-जुलना छोड़ देते हैं। अफसरोंको जो बड़प्पनकी भावना दूसरेके ऊपर शासन देती थी, वह शून्यमें विलीन हो जाती है। कोई भी उनकी मातहतीमें खड़ा नहीं होता; नौकरोंकी संख्या कम हो जाती है। दूसरोंपर शासनकी भावना मनुष्यके गर्व तथा 'अहम्' को फुलाये रखती है। वह उसके नशेमें छोटी-मोटी तकलीफों और असुविधाओंकी परवा नहीं करता। पेंशन पाते ही उसका शासन-विधान एक प्रकारसे समाप्त हो जाता है और वह भी एक साधारण व्यक्ति बन जाता है। गर्व चूर्ण होनेसे पेंशन पानेवालेको अपनी निर्बलता और दयनीयताका भास होने लगता है।

दूसरी भावना बेकारीकी है। मनुष्य केवल रोटीसे ही जीवित नहीं रहता, कार्यसे भी जीवित रहता है। उसके लिये कार्य उतना ही आवश्यक है, जितना कि भोजन, वस्त्र या मकान। चूँकि पेंशनरको

हैं। रिटायर्ड व्यक्तियोंको टहलनेका आनन्द प्राप्त करना चाहिये। प्रात: तथा सायंकाल टहलनेका कार्यक्रम स्वास्थ्यप्रद है। सामूहिक यात्राएँ, पहाड़ियोंकी सैर, धार्मिक स्थानोंका घूमना-फिरना उत्तम साधन है।

हमारे पूर्व-पुरुषोंने जीवनके संध्याकालमें धार्मिक स्थानोंपर यात्राओंको बहुत महत्त्व दिया है। इसका मनोवैज्ञानिक लाभ यह होता है कि मनुष्यकी विचारधारा और परिस्थितियोंमें परिवर्तन हो जाता है। परिवर्तन जीवनके निमित्त एक आवश्यक अंग है, जो अच्छे शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्यके लिये अतीव आवश्यक है। नये-नये स्थान, पर्वतोंके स्वच्छ निर्मल समीर, नये प्रकारके लोगोंसे सम्पर्क, बातचीत, स्थान, मकान, जलवायु और परिस्थितियोंका बदलना—ये स्वर-समता और एकरसताको दूर कर ताजगी देते हैं। इर्द-गिर्द एक-सी परिस्थितियोंसे थका हुआ मस्तिष्क नये काम, स्थान परिस्थितिसे पुन: तरोताजा हो उठता है।

अवकाश-प्राप्त जीवन आनन्द तथा स्वास्थ्यके लिये बना है। निरन्तर कार्य करते-करते जिस पुरुष अथवा स्त्रीका शरीर और मन थककर मुर्झा गया है, उसे संगीतमें रुचि बढ़ानी चाहिये। संगीतका जादू-जैसा प्रभाव होता है।

शरीर तथा मन दोनोंको अपनी शक्तियोंके ह्रासकी पूर्ति करनेकी आवश्यकता होती है। यह कार्य शास्त्रीय ढंगसे विश्राम करनेपर ही हो सकता है। विश्रामका यह अर्थ नहीं कि आप निष्क्रिय हो जायँ और निराश होकर पड़ जायँ। शारीरिक थकानको दूर करनेके लिये लेटना, आराम करना, मालिश करना, गर्म पानीसे पाँव धोना, जलपान करना, मुँह धो डालना आवश्यक है। मानसिक थकानके लिये पुरानी परिस्थितियोंसे हटकर कोई नया मनोरंजक कार्य करना चाहिये। अपनी दैनिक परिस्थितियोंसे हट जाना चाहिये; क्योंकि ये परिस्थितियाँ उन चिन्ताओं तथा मानसिक व्यथाओंसे सम्बन्धित रहती हैं, जो उन्हें घुलाये डालती हैं।

मानव-हृदयमें सत्-असत्का यह अनवरत युद्ध

मनुष्यका हृदय दो प्रकारकी भावनाओंका रंग-स्थल है। ये हैं सत् और असत्की अच्छी-बुरी भावनाएँ। यह आश्चर्यका विषय है कि एक ही मनमें शुभ तथा अशुभ दोनों वर्गोंकी भावनाएँ रहती हैं, जिनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। अच्छे-से-अच्छे व्यक्तिके मनमें कभी-कभी दानवी दुष्प्रवृत्तियाँ जाग्रत् हो उठती हैं और उसे पतनकी ओर खींचती हैं। वह जानता-बूझता पतनकी ओर चलता जाता है और प्राय: उसके मनमें पश्चात्तापका उदय तब होता है, जब पतन पूरी तरह हो चुकता है। पतित व्यक्तिका अन्त:करण फिर जोर मारता है, आत्मग्लानिसे फिर सत्प्रवृत्तियोंकी ओर बढ़नेका अवसर मिलता है और धीरे-धीरे सद्गुणोंका विकास होकर दुष्ट, पतित और अधम मनुष्य सर्वोच्च मान, पद या प्रतिष्ठाका पद प्राप्त करता है।

आप भी मनुष्य हैं और अन्य मनुष्योंकी भाँति अनेक अवसरोंपर आपकी मनोवृत्तियोंमें भी उपर्युक्त संघर्ष चलता रहता है। कभी आप सोचते हैं, 'मैं ऊँचा उठूँगा। मजबूत मर्द बनूँगा, जबतक ध्येय प्राप्त न हो जायगा, तबतक रुकूँगा नहीं। स्वार्थमय कार्योंको तिलांजलि देकर सत्यके मार्गपर—परमार्थके पदपर आरूढ़ रहूँगा। जो सत्य है, वही दूर दृष्टिसे हितकर है, श्रेष्ठ है। उसीको ग्रहण करूँगा।'

कभी आप इन भावोंको भूलकर वासनाके मोहक मादक जालमें फँस जाते हैं, पाप-पंकमें धँस जाते हैं। आमोद-प्रमोदोंमें बहक जाते हैं। नारीके मायाजालमें बँध जाते हैं। आपके सब नियम टूट जाते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि नारीके मोहक जालमें फँसे और स्वच्छन्द जीवनमें विवेक नष्ट कर बैठे। उनके त्याग, तप, सत्य, सिद्धान्त सब क्षणभरमें नष्ट हो गये। इन्द्रियाँ बड़ी ही चपल हैं। तनिक-सी ढीली पड़नेपर

जैसे आप अपने-आपको सच्चे हृदयसे दिखानेकी चेष्टा करते हैं, वैसे ही आप वास्तवमें बनते जाते हैं। आप स्वयं अपने स्वामी हैं। यदि आप दृढ़ सात्त्विक विचार रखनेवाले हैं तो निश्चय ही संकल्पके अनुसार अपनी मानसिक, आध्यात्मिक और शारीरिक उन्नति कर सकते हैं।

सत् (अर्थात् सत्य, शुभ) को ही धारण कीजिये। यदि वाणीसे सत्य बोलें और किसीको धोखा न दें तो वाणीका संयम हो जायगा। यदि कर्म सच्चे करें, इन्द्रियोंको रोकें तो कर्म-संयम हो जायगा। यदि मनसे व्यर्थ गंदे मोहजाल, वासना, दुष्ट इच्छाओंके विचारोंको रोकें तो मनका संयम हो जायगा। तात्पर्य यह है कि सत्को हर प्रकार हर दिशामें धारण करनेसे उन्नति होगी। विचारधारा ही प्रत्येक कर्मकी जननी है एवं चित्तकी एकाग्रता या चित्तसंयम उसका स्वामी है, इसलिये प्रत्येक स्थान, काल और परिस्थितिमें अपने सत्-स्वरूपका सदैव ध्यान रखिये। शास्त्रोंमें कहा भी गया है—

यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः॥

जिसकी बुद्धि अद्वितीय आत्मामें प्रवृत्त होती है, जो सर्वभूतोंमें आत्मा ही देखता है, ऐसा पुरुष जिसको कृपा करके देख लेता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

अपने विवेकको जागरूक रखिये

मनुष्यमें अन्य जीवोंकी अपेक्षा जो श्रेष्ठतम गुण है, वह है बुद्धि। सर्वत्र मनुष्यकी बुद्धिके नाना चमत्कार ही दिखायी दे रहे हैं। कौएके पश्चात् शायद मनुष्य ही सबसे होशियार है। देखा जाता है कि बुद्धिकी रुझान चालाकी, बेईमानी, धूर्त्तता, धोखेबाजी आदिकी ओर है। इन्सान दूसरोंको धोखा देना चाहता है और अपने-आप स्वार्थमय विलासी जीवन व्यतीत करना चाहता है। इसीमें उसकी बुद्धिमानीका उपयोग हो रहा है। यह होशियारी मनुष्यका क्षय ही करनेवाली है। दगाबाजी, झूठ, फरेब, जेबकट, धोखा इत्यादि अनेक रूपोंमें मनुष्यकी बुद्धिका दुरुपयोग हो रहा है।

गायत्री-विद्यामें सद्बुद्धि करनेकी शिक्षा दी गयी है। 'ध्य' शब्दका अर्थ विवेक होता है। विवेक क्या है? न्याययुक्त निष्पक्ष लोक-कल्याणकारी भावनाओंसे प्रेरित होकर जो विचार किया जाता है, वह विवेक है। जब हृदयमें विवेक जाग्रत् हो जाता है, तब वह हमारी बुद्धिको ठीक मार्गपर आरूढ़ करता है। विवेक शरीर तथा मनका गुरु है। विवेकका सम्बन्ध विश्वमें व्याप्त चैतन्यशक्तिसे है। विवेकके द्वारा हम ईश्वरसे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। विवेक ईश्वरसे सम्बन्ध जोड़नेका एक माध्यम है। इससे हम उन तमाम शक्तियोंका उपयोग करते हैं, जो ईश्वरमें व्याप्त हैं।

गीता ईश्वरकी वाणीसे सम्बन्ध जोड़नेका एक माध्यम है। देवताओंकी विभिन्न मूर्तियाँ दैवी गुणोंके विभिन्न माध्यम हैं। ईश्वरके चित्रोंमें हम दैवी गुणोंको ग्रहण करते हैं।

विवेकके रूपमें हमारे हृदयमें ईश्वर बैठे हुए हैं। विवेक परमेश्वरकी वाणी है। विवेक सत्य है। उसे जाग्रत् करनेके लिये हमें निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। आजके बुद्धि-वैभव-भ्रमित युगमें विवेक ही हमें ठीक

दिशामें चलते रख सकता है।

आप यह सोचकर भयभीत न हों कि आप पढ़े-लिखे नहीं हैं, पुस्तकें नहीं पढ़ी हैं, विद्वानोंके सम्पर्कमें नहीं रहे हैं; फिर विवेक आपके साथ है। आप ध्यानसे सुनें तो विवेक आपका मार्ग प्रकाशमान रखेगा। इसमें जो ईश्वर-तत्त्व है, वही विवेक है। वह मस्तिष्कमें सर्वत्र व्याप्त है। यही हमारी उन्नतिकी दिशाको उचित-दिशामें रखनेवाला है।

बुद्धि, विवेक और तर्क—ये तीन ऋषि हैं, जो हमारे हृदयमें विराजमान हैं। ये हमें सत्यकी खोजमें सहायता प्रदान करनेवाले हैं। जितना-जितना हम आगे चलेंगे, उतना ही हमारा मार्ग प्रकाशित होता चलेगा। यह हमारे व्यक्तित्वका क्रमिक विकास है। हमारा जीवात्मा जो कहता है, वह वास्तवमें मुक्तिदाता है।

प्रत्येक देश-काल-पात्रके अनुकूल समाजकी भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ रहती हैं। कहीं हिंसाका पक्ष लिया गया है तो कहीं उसके विपक्षका; कहीं विधवा-विवाहका खण्डन है तो कहीं मण्डन। एक काल और व्यक्तिके लिये जो बात ठीक हो सकती है, वह दूसरे काल तथा व्यक्तिके लिये सम्भव नहीं है। जो बातें प्राचीन कालमें उचित थीं, सम्भव है वे अब उचित न रहें। इस नीर-क्षीरको पृथक् करनेमें विवेकका मुख्य हाथ है।

कौन-सा मार्ग ग्रहण करें ?

एक महोदय लिखते हैं, 'मैंने आपके अनेक लेख और पुस्तकें पढ़ी हैं, पर एक चीज मेरे दिलमें हमेशा यह खटकती रहती है कि बेईमानी क्यों फलती-फूलती है।' आप कहते हैं—'लक्ष्मी उसीकी दासी है, जो ईमानदारीसे व्यापार या सच्चे मनसे परिश्रम करते हैं।' मैं परिश्रम करता हूँ, सदा ईमानदार रहता हूँ, पर इन दोनोंके बावजूद न मुझे लक्ष्मी मिली है और न शान्ति ही, सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त नहीं हुई। आखिर बतलाइये मैं अब क्या करूँ? ईमानदारीके रास्तेमें भूख, विवशता, गरीबी है। परिश्रम और ईमानदारीसे काम कर-करके मैंने अपना स्वास्थ्य खो दिया और साथ ही लक्ष्मीकी कृपा भी; अब प्रार्थना यह है कि मेरी गुत्थी सुलझा दें कि चोरी, बेईमानी, कालाबाजार, घूसखोरी और दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेसे क्यों महल खड़े होते जाते हैं और इसके विपरीत सच्चे मजदूर, नेकनियत इन्सान और ईमानदारको क्यों दाने-दानेके लिये तरसना पड़ता है? किसको सच्चा मानूँ? आपके लेखोंको या समाजके इस उत्थान-पतनको?

ईमानका सम्बन्ध मनुष्यके गुप्त मनसे है। हमारी अन्तरात्मा जिस कार्यको उचित कहती है या स्वीकार करती है, उस आचरणको करनेवाला ईमानदार कहलाता है। ईमानदारीसे कार्य करनेमें हमें अन्दरसे ही एक गुप्त शान्ति और सन्तोषका अनुभव होता है। इसके विपरीत आत्माका हनन कर बेईमानीसे कार्य करनेपर हमारा गुप्तमन हमें अन्दर-ही-अन्दर कचोटता रहता है। हमें शान्ति नहीं मिलती। हमेशा यह गुप्त भय रहता है कि हमारी बेईमानी या चोरी किसीको किसी दिन किसी भी अवसरपर प्रकट न हो जाय। जैसे जलसे शरीर शुद्ध होता है, उसी तरह सत्याचरणसे मन और बुद्धि पवित्र हो जाते हैं।

हनन की हुई आत्मा ही हमें बेईमानीकी ओर जाने देती है और दुष्कर्म कराती है। असत्य या बेईमानीके कार्यद्वारा असत्य कार्य करने,

रिश्वत, चोरबाजार आदि चोरियाँ करनेसे धीरे-धीरे हमारी अन्तरात्मा मर जाती है। हनन की हुई आत्मामें सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, उचित-अनुचितका विवेक नहीं रहता। अतः बहुत-से व्यक्ति चोरी करते हुए भी बाहरसे संतुष्ट-से प्रतीत होते हैं, पर बुरे कार्योंकी सूक्ष्म रेखाएँ अन्तश्चेतनाके ऊपर अंकित होती रहती हैं और मनपर सदा आघात करती हैं। एक-न-एक दिन पाप प्रकट होता ही है और करनीका फल मिलता ही है।

ईमानदारीके मार्गके साथ आपको आत्माकी दैवी शक्तियोंका भी सहयोग मिलता रहेगा। सच्चे व्यक्तिको कभी किसी गुप्त भेदके प्रकट होनेका कोई भय नहीं रहता। वह तो खरा है। चाहे किसी कसौटीपर चढ़ा लीजिये, सदैव चमकता ही रहेगा। सत्, चित्, आनन्दस्वरूप आत्मा इसीलिये इस भूमण्डलपर भेजा गया है कि वह सत्यका ही व्यवहार करे, असत्य या झूठके अन्धकारसे बचा रहे। जो व्यक्ति यह समझता है कि बेईमानीसे, लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंककर बढ़ता रहेगा, वह वास्तवमें बड़ी भूल करता है। बेईमानी, चोरी, रिश्वत तो एक प्रकारकी अग्नि है। वह कब छिपती है? उसे चाहे सौ कपड़ोंमें लपेटकर रखा जाय, एक-न-एक समय कपड़ोंको जलाकर प्रकट हो ही जाती है। ईश्वरने आपको **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** से युक्त आत्मा (अर्थात् अपना दिव्य अंश) इसीलिये दिया है कि आप असत्यसे बचकर सत्यके, ईमानदारीके, प्रकाशके मार्गको ही ग्रहण करें।

बेईमानी चार दिन ही फलती-फूलती-सी दीखती है। वास्तवमें वह अवनतिका तो रूप होती है। दीपक जब बुझनेको होता है, तब तेजीसे चमककर शान्त हो जाता है। इसी प्रकार बेईमानकी दौलतसे, रिश्वतके धनसे घर-परिवार क्षणभरके लिये समृद्ध प्रतीत होते हैं; पर चोरीके प्रकट होते ही वे ऐसे गहरे खड्डेमें गिर पड़ते हैं, जिससे निकलना असम्भव हो जाता है। वे दीर्घकालतक असत्यके अन्धकारमें भटकते रहते हैं। अतः पहलेसे ही ईमानपर टिके रहनेका व्रत ले लेना चाहिये।

बेईमानीकी दौलत उसीके साथ नष्ट हो जाती है। क्या आपने किसी बेईमानकी संतानको फलते-फूलते देखा है? अगर बेईमान फलते-फूलते रहते तो इस संसारमें सभी बेईमानी, ठगी और चोरीपर आ जाते। सत्य संसारसे लुप्त हो जाता, केवल पाप ही रहते। चोरों, ठगों, डकैतों और राक्षसोंका नित्य राज्य हो जाता। हमारा समाज निठल्ले कामचोरोंसे भर जाता। पर ईश्वरका नियम ही कुछ ऐसा है कि सच्चे और ईमानदार गरीब होकर भी पूजे जाते हैं; झूठे और बेईमान अमीर होकर भी तिरस्कृत होते हैं। चोरकी झोपड़ीपर कभी फूँसतक नहीं रहता।

ईमानदारीके एक पैसेमें बेईमानीके लाख रुपयेसे अधिक बल है; क्योंकि वह स्थायी है। उस पैसेके साथ सत्कर्मका गौरव जुड़ा हुआ है।

आप सत्यके यात्री हैं। सत्यस्वरूप आत्मा हैं। झूठ और मिथ्याचारके सुहावने दीखनेवाले भयानक जंगलोंमें मत भटकिये। ईमानदारीकी सूखी रोटियाँ खाते रहिये तो स्वस्थ रहेंगे। बेईमानीकी हलवा-पूरी आपका स्वास्थ्य नष्ट कर देगी। अधर्मसे धन जमा करके सम्पत्तिशाली बननेकी अपेक्षा यही अच्छा है कि मनुष्य सत्य आचरण करता हुआ गरीब बना रहे। जो पैसा दूसरोंको रुलाते हुए हड़प लिया जाता है, वह लेनेवालेको नष्ट करके ही विदा होता है।

सत्यता और ईमानदारी धर्मात्मा मनुष्यके भूषण हैं। ये ईश्वरकी सत्ताके द्योतक हैं। प्राणान्त होनेपर भी इन दिव्य गुणोंका ह्रास मत होने दीजिये।

यदि हमारी आजीविका झूठ, अन्याय, छल, कपटसे कमायी हुई है तो उसपर पलनेवाली हमारी संतान भी उसका उपयोग करनेपर अधिकाधिक अन्याय, झूठ और धूर्त्तताकी ओर प्रवृत्त होती जायगी और हमारी आनेवाली पीढ़ीको भी दुःखी बना डालेगी। अतएव सत्य आचरण और खरे पसीनेकी कमाईसे ही शुद्ध भोजन प्राप्त होता है।

जिसे कमाते और खाते दुनियाके किसी व्यक्तिके सामने आँखें नीची न करनी पड़ें, वही ईमानदारीकी कमाई है। यह हमें आत्मनिर्भर रहना सिखाती है और स्वाभिमानकी वृद्धि करती है।

एक विद्वान्‌के ये वचन सदा स्मरण रखनेयोग्य हैं—'तुम्हारा मन जब ईमानदारीको छोड़कर बेईमानीकी ओर चलने लगे, तब समझना चाहिये कि अब तुम्हारा सर्वनाश निकट आनेवाला है। बेईमानीसे पैसा मिल सकता है, पर देखो, सावधान रहना। उस पैसेको छूना मत! क्योंकि वह आगकी तरह चमकीला तो है पर छूनेपर जलाये बिना नहीं रहता। ईमानदारीसे चाहे थोड़ी ही सम्पत्ति भले ही कमायी जाय, पर वह पीढ़ियोंतक कायम रहेगी और बढ़ती रहेगी, जब कि बेईमानीके विशाल वृक्ष एक ही झोंकेमें उखड़कर गिर जाते हैं। एक दिन वह अवश्य ही उन्नति करेगा, जो दूसरोंके लाभको अपने ही लाभकी तरह देखेगा। यह मत समझो कि ईमानदारको भोंदू और अकर्मण्य समझा जायगा। मूर्ख ही ऐसा खयाल कर सकते हैं। विवेकवानोंकी दृष्टिमें न्यायशील और ईमानदार आदमी ही बड़ा समझा जायगा, फिर चाहे वह गरीब ही क्यों न हो।'

भी एक मोहवृत्ति है, व्यर्थकी तृष्णा है। खानेमें आप उतना ही खायेंगे, अधिक पेटमें नहीं भर सकते। वस्त्र भी उतने ही पहन सकते हैं। सोनेके लिये खाट भी उतनी ही चाहिये। खान-पान, रहन-सहन इत्यादिके लिये आपको मामूली ही व्यक्ति-जैसे वस्तुएँ चाहिये। इन्हें आप ईमानदारीसे कमा सकते हैं।

भोग और लोभ—बुराइयोंके ये दो मूल हैं। इन्हें रोकनेसे आप सुखी रहेंगे। एकको ठगेंगे तो दूसरा आपको ठगेगा, तीसरा उसे ठगेगा। इस प्रकार ठगी और बेईमानी सर्वत्र फैल जायगी। यदि आप ईमानदारीको अपना ध्येय बनायेंगे तो वही सर्वत्र फैलेगी। बेईमानी सब प्रकारके विकासको नष्ट करती आ रही है। यह एक सस्ती चीज है, जो मनुष्यकी शक्तियोंको कुण्ठित कर देती है। बेईमानीसे सब उद्योग-धंधोंका और व्यापारोंका नाश होता है। छल-कपट अधिक दिन टिकनेवाले नहीं हैं।

बेईमानीके कारण सच्चे व्यक्ति जो विश्वासपात्र हैं, उनपरसे भी विश्वास उठ गया है। मानवको मानवपर विश्वास करना कठिन हो रहा है। जनताको नेताका, नेताको जनताका, पिताको पुत्रका, पुत्रको पिताका, पतिको पत्नीका, पत्नीको पतिका विश्वास नहीं है। समाजके सब संगठन बेईमानीके कारण टूट-फूट गये हैं। रोगीको डॉक्टरपर विश्वास नहीं है। वह समझता है कि जो दवा उसे दी जा रही है, वह केवल रंगा हुआ जलमात्र हो सकता है। जनता समझती है कि नेता उसे पथ-भ्रष्ट कर रहे हैं। यदि हम बेईमानीके विरुद्ध कड़ा कदम उठा लें तो एक ऐसा केन्द्र उपस्थित कर सकते हैं, जहाँसे सत्य, न्याय और प्रेमकी किरणें विकेन्द्रित हो सकती हैं। ये ही किरणें सर्वत्र व्याप्त होकर दूषित वातावरणको शुद्ध कर सकती हैं।

बेईमानी आपके जीवनका कोई अंग नहीं बननी चाहिये। बेईमानी अप्राकृतिक है। उसे व्यवहारमें लानेसे हमें अपनी आत्माका हनन करना पड़ता है। हम झिझकते रहते हैं कि कहीं हमारा झूठ-फरेब प्रकट न

हो जाय, हमारा रहस्य प्रकट न हो जाय, हमें लोग बुरा-भला न कहें। बेईमानी हमारे गुप्त मनमें दुराव-छिपावकी भावना-ग्रन्थि उत्पन्न करती है और सदा किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित किया करती है।

बेईमानी अन्धकार है, तो ईमानदारी शुभ प्रकाश है। ईमानदारीमें मनुष्य धनहीन और अभावग्रस्त रह सकता है; किंतु उसके मनमें शान्ति और संतुलन रहता है। उसका चरित्र-निर्माण दृढ़ पृष्ठभूमिपर रहता है। उसे यह झिझक या शंका नहीं रहती कि कोई किसी दिन आकर उसकी बेईमानीको पकड़ लेगा या उसकी अप्रतिष्ठा होगी, उसकी नौकरी जायगी या मुकदमें चलेंगे। ईमानदारीसे रहना सचाईसे रहना है। ईमानदारीकी कमाई दीर्घकालतक चलनेवाली होती है।

डायरी लिखनेसे दोष दूर होते हैं!

डायरी लिखना महापुरुषोंका एक दैनिक कार्य रहा है। रात्रिमें सोनेसे पूर्व वे दिनभरका लेखा-जोखा अपनी डायरीमें लिखते रहे हैं। हमारे मनमें अनेक-अनेक अन्तर्द्वन्द्व होते रहते हैं। असत्यभाषण, क्रोध, काम इत्यादि दुष्ट मनोविकारोंके वशीभूत होकर हम अनेक गलतियाँ, बेईमानी, कपट, मिथ्याचार किया करते हैं। ये दोष मन-के-मनमें ही रह जाते हैं। मन ही चोरीसे हमें पथभ्रष्ट करता है। मनके ये राक्षस किसी-न-किसी कोनेमें छिपकर उभर उठनेकी प्रतीक्षा किया करते हैं। यदि हम इन्हें मनमें छिपाये रहें तो हमें सदा यह भय रहता है कि न जाने ये कब उठकर हमें गिरा देंगे। इन्हें बार-बार मारने, चाबुकसे पीटने, नियन्त्रित करने और सत्पथपर अग्रसर करनेके हेतु डायरी अमूल्य साधन है।

डायरी हमारे समय तथा कार्योंका दैनिक लेखा-जोखा है। हमारे मनमें कौन-सा विचार अच्छा या बुरा आया? क्यों आया? नहीं आना चाहिये था? आगे नहीं आयेगा? आदि प्रश्नोंका उत्तर हमें प्रतिदिन डायरीमें दर्ज करना चाहिये। ऐसा करके हम स्वयं अपने दोषोंको परखने, अपनेको ताड़ने और परिष्कार करनेवाले होते हैं। जब हम अपने दोषोंको दूसरेसे कहते अथवा लिखते हैं, तब हममें उनसे बचनेकी प्रवृत्ति दृढ़ होती है। हम उनसे मुक्त होकर उच्चतर जीवनकी अभिलाषा प्रकट करते हैं। अपनी गलतियोंके लिये पश्चात्ताप करते हैं। स्वयं अपनेसे सान्त्वना और मनःशान्ति भी प्राप्त करते हैं।

डायरी लिखनेसे विचारोंमें स्पष्टता आती है। यदि सब दोषोंकी सूची हमारे सामने रहे तो उन्हें दूर करनेमें वृत्ति लगी रहती है। कहते हैं, बेंजामिन फ्रेंकलिनने यही आत्मसुधारका साधन अपनाया था। प्रतिदिन वे जो कुछ उत्तम अथवा निकृष्ट कार्य करते थे, रात्रिमें उसे डायरीमें दर्ज करते थे। निकृष्ट कार्यपर विक्षोभ प्रकट करते और भविष्यमें उसकी पुनरावृत्ति न करनेकी प्रतिज्ञा और दृढ़ संकल्प करते थे। वे अपने आलस्य, प्रमाद, क्रोध, वासना आदिके लिये आत्मग्लानि

प्रकट करते तथा आगे इन दुर्गुणोंमें न पड़नेका संकल्प किया करते थे। सन्मार्गका अवलम्बन तथा निकृष्टसे सम्बन्ध-विच्छेद करते-करते अन्ततः आत्मसुधारमें अच्छी प्रगति की थी। वे अपने मनकी चंचलता दूर कर सकते थे। अन्य महापुरुषोंने भी डायरी लिखना जारी रखा है। जेम्स ऐलनकी डायरी आध्यात्मिक वृत्तिके जिज्ञासुओंके हेतु आज भी आकाशदीपका कार्य करती है। महात्मा गाँधी भी डायरीकी महत्ता समझाते रहते थे। स्वामी शिवानन्द महाराजने लिखा है—

'प्रतिदिन आध्यात्मिक डायरी लिखना अत्यन्त आवश्यक साधन और महत्त्वका कार्य है.........डायरी मनको ईश्वरकी ओर हाँकनेके लिये चाबुकका कार्य करती है। यह मनुष्योंको स्वतन्त्रता और शाश्वत आनन्दका मार्ग बतलाती है। यह आपकी गुरु है, नेत्र खोलनेवाली है। यह मननशक्तिको बढ़ाती है। यह आपकी तमाम बुरी आदतोंको छुड़ाने तथा आध्यात्मिक साधनामें नियमित रहनेसे सहायता करती है। यदि डायरी नित्य लिखा जाय तो इससे आध्यात्मिक पथपर द्रुतगति प्राप्त होती है। जिन्हें धर्माचार, आध्यात्मिकतामें उन्नति करनेकी अभिलाषा है और तेजीसे आगे बढ़नेकी लालसा है, उन्हें अपने नित्य कर्मोंका विवरण प्रतिदिन अवश्य रखना चाहिये।'

डायरी कैसे लिखें?

एक ऐसी डायरी खरीदिये या बना लीजिये, जिसमें एक पृष्ठ प्रतिदिनके लिये दिया हुआ हो। यदि काफी लंबा न हो तो एक साधारण कापीसे भी कार्य चलाया जा सकता है। इसमें प्रतिरात्रिमें अपने दिनभरके कार्योंका सिंहावलोकन कराइये। आपने जो कुछ अच्छा या बुरा किया, किसीको अपशब्द कहा अथवा सद्गुणोंके लिये हार्दिक प्रशंसा की, किसीकी सेवा-सहायता की, अथवा दान किया, उसे लिखिये।

समयका ब्योरा भी लिखिये। कितना समय सोनेमें, नित्यकर्ममें, व्यर्थ बकवास करनेमें, मनोरंजन आदिमें व्यय किया है? छः घण्टे निद्राके अतिरिक्त अन्य समय सोकर नष्ट मत कीजिये। दिनमें भोजनके पश्चात् आप थोड़ा विश्राम कर सकते हैं; पर सोनेसे शरीरमें आलस्य

आता है, मन भारी-भारी बना रहता है। लिखिये कि कितनी देर व्यायाम किया, टहलने गये, घूमे, मित्रोंके पास मिलने गये। कितना समय व्यर्थ नष्ट किया?

अपने आचार-व्यवहारकी आलोचना भी रखिये। कितनी बार झूठ बोले और उसके लिये अपनेको कितनी, कैसी सजा दी, भविष्यमें पुनरावृत्ति न करनेके लिये कैसा प्रयत्न चला? कितनी बार काम, क्रोध, ईर्ष्या, चिन्ताका वेग आया और उसे दूर करनेके लिये आपने क्या किया? आपने कैसा दण्ड दिया? कितनी-कितनी बुरी आदतोंको दूर करने तथा नवीन सद्भावनाओं, अच्छी आदतोंको धारण करनेमें समर्थ रहे? किन-किन दैवी गुणोंका आप विकास कर रहे हैं? कौन-सी भावना, चिन्ता, विकार, मनोवेग आपको अधिक सताते हैं? उन्हें रोकनेमें आप कितना उद्योगशील और समर्थ हुए हैं?

आध्यात्मिक उन्नतिका ब्योरा दर्ज कीजिये। आप सांसारिकतासे कितना छूट रहे हैं? माया, मोह, ममता आपको दुनियामें कितना बाँधे हुए हैं? आप स्वार्थ या लोभवश क्या-क्या कर बैठते हैं? अपने इष्टदेवका ध्यान, कीर्तन-भजन, सद्ग्रन्थावलोकन आप कितनी देर करते हैं? सत्संग कितनी देर करते हैं? स्वाध्यायमें कितना समय लगाते हैं? स्वार्थरहित निष्काम सेवामें कितना समय आप व्यय करते हैं? गीताके कितने श्लोक पढ़े, कितनों और किन-किनपर अमल किया? जप और ध्यानकी ओर कैसी प्रगति रही? ब्रह्मचर्यको अपनाने तथा भोग-विलासके परित्यागके हेतु कैसी श्रद्धा चल रही है? इन्द्रियनिग्रह और त्यागवृत्तिकी धारणा कैसी है? सांसारिक भोगोंको कैसे छोड़ रहे हैं? आत्मकल्याणके क्षेत्रमें जो-जो प्रगति हो, उसे दर्ज करते चलिये।

आपके पारिवारिक जीवनमें कैसी उन्नति है? आप अपने परिवारके प्रत्येक सदस्यकी उन्नतिके लिये कैसा प्रयत्न कर रहे हैं यह भी लिखिये।

डायरी आपकी सर्वांगीण उन्नतिका मापदण्ड है। वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक, आध्यात्मिक—सभी उन्नतिका ब्योरा तथा बुरी आदतों, कमजोरियों-भूलोंके प्रति पश्चात्ताप दर्ज होना

भगवदर्पण करें

संसारमें नाना कार्य, विभिन्न स्थितियाँ, परिवर्तन क्यों हो रहे हैं? अन्यथा क्यों नहीं होते? क्या इनमें कोई निश्चित क्रम, उद्देश्य अथवा विधि है? हम इन परिवर्तनोंसे डरें या नहीं? हमारा इन कार्योंके प्रति क्या लक्ष्य हो?

सृष्टि तथा मानवसमाजके सब कार्य विधिके पूर्वनिर्दिष्ट विधानके अनुसार सम्पन्न हो रहे हैं। परमेश्वरने सब कार्य-प्रणाली पहलेसे ही सुनिश्चित कर रखी है। उसी अटल क्रमके अनुसार सृष्टिके अच्छे-बुरे परिणाम प्रकट हो रहे हैं। अनेक बार ऐसे कार्य अथवा विषम परिस्थितियाँ हमारे सामने उपस्थित हो जाती हैं कि हम स्वयं अपनेसे, समाजसे तथा भगवान्‌से क्रुद्ध हो उठते हैं। अपनेको कोसते हैं, परिस्थितियोंको धिक्कारते हैं, अनेक व्यक्तियोंको अपने दुःख, अवनति, विरोधका उत्तरदायी ठहराते हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है मानो हमारे साथ बड़ा अत्याचार हो रहा है। मानो सभी हमारे पीछे हमारा अशुभ, हानि, अवनति करनेमें लगे हैं। हम असहाय और निरुपाय, हतबुद्धि-से हो जाते हैं।

आप अपना कर्त्तव्य करें, फलकी रक्षा परमेश्वरपर छोड़ दें। दूसरे शब्दोंमें अपने व्यक्तित्वको भगवान्‌से सम-स्वर (in tune with the infinite) कर लें। हम ज्यों-ज्यों कर्मके पश्चात् भगवान्‌के चरण-कमलोंकी संनिधि प्राप्त करते हैं, त्यों-त्यों हमारा हृदय शुद्ध होता जाता है और विषयोंका विषैला प्रभाव जाता रहता है।

अपना अधिकाधिक सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ते रहिये। उन्हींका चिन्तन करने तथा आत्मस्वरूप भगवान्‌का गुणानुवाद करनेसे हमारे हृदयमें सोये हुए देवता जाग्रत् होते हैं, प्रेममयी भक्तिका उदय होता है और जीवन पवित्र हो जाता है।

कलियुगमें वातावरणके कारण मनुष्यमें अनेक दोष आ गये हैं। कारण, मनुष्यका अन्तःकरण दूषित राग-द्वेषमयी विचारधारासे परिपूर्ण हो उठा है। कर्मबन्धनोंसे कृत्रिम आवश्यकताओं और माया-मोहके अन्धकारने हमारी बुद्धिको दोषयुक्त बना दिया है। अब यदि हम दोषोंके आदिस्रोत अन्तःकरणमें पुरुषोत्तमभगवान्‌को विराजमानकर तद्विषयक चिन्तन करें तो उनके नाम-रूप-गुणानुवादसे पवित्र विचारधाराका नवोन्मेष हो सकता है।

श्रुतः संकीर्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा।
नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम्॥

(श्रीमद्भा० १२। ३। ४६)

'भगवान्‌के रूप, गुण, लीला, धाम और नामके श्रवण-संकीर्तन, ध्यान-पूजन और आदरसे वे मनुष्यके हृदयमें आ विराजते हैं और एक-दो जन्मोंके पापोंकी तो बात ही क्या, हजारों जन्मोंके पापके ढेर-के-ढेर भी क्षणभरमें भस्म कर देते हैं।'

जब कभी आप संकटमें हों, आपके हाथ-पैर जवाब देने लगें, आपद्-कालमें अपना सब कुछ भगवदर्पण करें—आप देखेंगे कि दैवी नियमोंके अनुसार स्वयं काम होता जायगा, गुत्थियाँ सुलझती जायँगी और आपकी निष्ठाके अनुसार कार्यसिद्धि होती जायगी।

भगवदर्पण करना संसारकी सबसे बड़ी शक्तिके साथ सम्बन्ध स्थापित करना है। यह दैवी शक्ति हमारे हृदयमें उदित होकर सर्वत्र प्रकाश फैलाती है। जो लोग इस दुस्तर संसारसागरसे पार जाना चाहते हैं, उन्हें भगवान्‌का सहारा अवश्य लेना चाहिये। भगवान्‌को सब कुछ अर्पणकर कार्य करनेसे वह कार्य हमारा स्वार्थमूलक कार्य नहीं रह जाता, वरं उसका दिव्य अभिप्राय हो जाता है; अतः वह स्वतःसिद्ध हो जाता है।

विषम परिस्थितियों और कठिनाइयोंमें हमारी मनःस्थिति धैर्य और शान्तिकी होनी चाहिये। संसारकी गति अपने क्रमके अनुसार चलती

चाहिये। प्राणायाम, धार्मिक पुस्तकोंका स्वाध्याय-मनन, आपका पश्चात्ताप और उन्नतिकी ओर प्रगति उसमें चित्रित होनी चाहिये।

दैनिक डायरी आपका दु:ख-सुख, हर्ष-विषाद, प्रशंसा-ताड़ना अपनी आलोचना-प्रत्यालोचनामें सच्चा साथी है। मनोविज्ञानका यह नियम है कि अपनी व्यथा, आन्तरिक हर्ष, विषाद, कसक, वेदना, हूक या आनन्ददायिनी आशा, अभिलाषा, सौन्दर्यशीलता, प्रेम, सुख, महत्त्वाकांक्षा आदि दूसरोंसे कहनेसे मन प्रसन्न होता है। अपनी मर्म-व्यथाएँ दूसरोंसे प्रकट कर देनेसे मनकी शून्यता एवं आकुलता दूर होती है, पीड़ा और हृदयद्रावक क्रन्दन बह जाता है। अन्तराल स्वच्छ हो उठता है। तम-निशा दूर होकर मनमें प्रभातकालीन आशा-रश्मिका उदय होता है। हृदयमें हरियाली और रससिक्त बहुमुखी तरंगिणी प्रवाहित होने लगती है। अवसाद दूर होता है। डायरी आपका ऐसा अनन्य मित्र है, सच्चा साथी, हितैषी, सुहृद् है, जिससे आप अपने मनकी पीड़ा कह सकते हैं। हृदयकी जलनपर सहानुभूतिका मरहम लगा सकते हैं। आशा और उत्साह प्राप्त कर सकते हैं। अत: स्वयं अपने-आपसे पृथक् होकर डायरीद्वारा अपने नये संकल्प लिखिये। कुकृत्यों तथा गलतियोंपर हार्दिक पश्चात्ताप प्रकट कीजिये। उनसे कोसों दूर रहनेका दृढ़ निश्चय लिखिये। लिखे हुए निश्चयोंमें अमित बल होता है। हम जितनी देरतक कोई बात लिखते हैं, उतनी देरतक उसी प्रकारके विचार-प्रवाहमें बहते हैं। हमारा अभ्यन्तर-प्रदेश उतनी देरतक उन्हीं विचारों, उसी वातावरणमें रहकर तदनुसार विकसित होता है। स्वयं अपनी आलोचना लिखनेसे हमारी आत्मनिरीक्षणकी शक्ति दृढ़ होती है। अपने मानसिक त्रुटियों, क्लेशोंके कारण ढूँढ़कर हम स्वयं ही उनका निवारण करते हैं।

डायरी एक ऐसा सच्चा शिक्षक है, जो हमें सत्यपथपर आरूढ़ होनेमें सहायता करता है और क्षण-क्षण भागते हुए समय—कम होती हुई आयु-सम्पदाका लेखा-जोखा रखती है। अपने बीते हुए विचारोंको पुन: पढ़कर हमें अपने क्रमिक विकासका ज्ञान होता है।

डायरी लिखनेकी आदत डालिये।

बेईमानी एक मूर्खता है

बुराई सचाईकी छायामें पलती है। यदि कुछ व्यक्ति धोखे और बेईमानीसे सम्पन्न होते हुए दिखायी देते हैं तो स्मरण रखिये, यह सब इसलिये है कि लोग उन्हें सच्चा और ईमानदार समझते हैं। उन्हें यह भ्रम हो जाता है कि अमुक व्यक्ति सच्चा है। यदि बेईमानीमें शक्ति होती तो लोग खुलेआम बेईमानीकी प्रशंसा करते, किंतु कोई भी बेईमानीकी प्रशंसा नहीं करता। जन-समाज बेईमानीके विरुद्ध इसलिये है कि इसमें शक्ति नहीं। हमें शक्तिका आभासमात्र होता है। बेईमानीकी शक्ति थोड़े दिनों बाद स्वयं प्रकट हो जाती है।

चोर, डाकू, पाकेटमार, वेश्या इत्यादि दिन-रात रुपया कमाते हैं। यदि ये अपना रुपया एकत्रित करें तो रुपयेसे घर भर सकते हैं, किंतु ऐसा नहीं है। बेईमानीका धन होनेके कारण वह एक ओरसे आकर दूसरी ओर निकल जाता है। रिश्वत जैसे आती है, वैसे ही तितर-बितर हो जाती है। ये व्यक्ति जैसे-के-तैसे रह जाते हैं।

मानव भोग खूब भोगना चाहता है। खूब ऐशो-आराम, विलास-प्रियता, वासना-सुख चाहता है। इस तृष्णाके कारण ही सर्वत्र अतृप्ति और अशान्ति है। मनुष्य जितना ही अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाता है, उतना ही दुःखी रहता है। वासना भी मोह और अतृप्तिका कारण है। विकार-ग्रस्त व्यक्ति कुछ नहीं कर सकते। ये सदा अपने विकारोंकी तृप्तिमें ही फँसे रहते हैं। वासनामें कभी शान्ति नहीं मिलती। शरीरकी इच्छाएँ कभी शान्ति नहीं दे सकतीं। ये आपके स्वास्थ्य और यश-प्रतिष्ठाको नष्ट करनेवाली हैं। कामवासना कुछ नहीं, स्वयं अपनी ही हड्डियोंका दूध है। आपके जीवन और स्वास्थ्यको नष्ट करनेवाला है। भोगोंमें लय होना मानो अपने शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर देना है। इसमें कोई सार नहीं है, कोई सुख-शान्ति नहीं है। इसी प्रकार धन-संग्रह

संतोष और वैराग्यसे असंतोष पाकर ये सांसारिक माया जालमें बहक जाती हैं। जिस प्रकार अग्निमें घृत डालनेसे वह अधिकाधिक उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार कामनाएँ तथा वासनाएँ उपभोगसे और बढ़ जाती हैं। वासनासे क्रोध, क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृति-भ्रम, स्मृति-भ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे सर्वनाश हो जाता है।

'यह करूँ या वह?' जब आपके मनमें सत्-असत्में द्वन्द्व हो, तब आपको सावधान हो जाना चाहिये और वह पथ पकड़ना चाहिये जिसके साथ आपकी आत्मा हो; क्योंकि वही देवत्वका मार्ग है।

जब वासनाएँ आपको पापकी ओर आकृष्ट करें, कुत्सित आमोद-प्रमोदकी ओर आपकी प्रवृत्ति हो तो आप सँभल जाइये; क्योंकि तब आपका दानवत्व जाग रहा है।

दानवत्व आपको गिराता है, देवत्व मनकी दुर्बलतापर विजय प्राप्त कराता है। देवत्व आपके शुभ विचार हैं। देवत्व मनमें आत्माके द्वारा श्रेष्ठ प्रेरणा देता है; अतः ऐसा प्रयत्न कीजिये कि आपमें जो शुभ है, वही आपपर हावी रहे।

आपके अन्दर परम देव जाग्रत् और चैतन्य होकर बैठे हैं। ये आपके आत्मा हैं। आत्मामें स्थिर होकर आप अपने प्राण और मनका निग्रह कर सकते हैं। आत्माके साथ एकराग हो जानेपर शरीरके सब विकार नष्ट हो जाते हैं।

देवता वह है, जो अपने दानवत्वको ठुकरा देता है। जो गिरकर भी अपने-आपको उठाता है। प्रत्येक गिरनेसे कुछ नयी शिक्षा, कुछ नये अनुभव प्राप्त करता है।

मनको निर्बल मत बनने दीजिये। गिरते हैं तो फिर भी उठनेकी आशा बनाइये। गिरनेपर निरन्तर उठनेका प्रयास कीजिये। जो गिरता है, उसके उठनेके अनेक अवसर बार-बार आते हैं। ऐसे अवसरोंकी प्रतीक्षा करते रहिये। यदि आपका सत् अंश (या देवत्व) जाग्रत् रहा तो निश्चय जानिये आप उत्थानकी ओर बढ़ेंगे।

अपना कार्य समाप्त हुआ दीखता है, उसमें अशक्तताकी भावना घर कर लेती है। निष्क्रियता, आलस्य, बेबसी तथा वृद्धावस्थाकी भावनाएँ उसके मानसिक संस्थानको निर्बलता और नैराश्यकी ओर खींचती हैं, फलतः उसकी मृत्यु निकट आ जाती है।

जीवन मृदु कैसे बने?

रिटायर्ड व्यक्तियोंको जीवनमें उलझाये रखनेके लिये कुछ कार्य चाहिये। जबतक यह कार्य आपके पास है, तबतक जीवनमें आलस्यका अनुभव न होगा। जीवनको भिन्न-भिन्न प्रकारके कार्योंसे परिपूर्ण रखना चाहिये। खाली बेकार बैठना जीवनको कम करना है।

अहंभाव मनुष्यका एक महत्त्वपूर्ण भाव है। इस भावकी तुष्टिके लिये रिटायर्ड व्यक्तिको कोई ऐसा कार्य चुन लेना चाहिये, जिसमें वह महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त कर सके। उदाहरणस्वरूप जनताकी सेवा, उपदेश, नेतृत्व, वक्तृता, म्युनिस्पैलिटीके कमिश्नरका कार्य, निःशुल्क अध्यापन या लेखकका कार्य। ग्रामोंमें समाज-सेवाके अनेक क्षेत्र हैं। पंचायतोंका निर्माण, उनका उचित संचालन, देखभाल, नेतृत्व, प्रौढ़-शिक्षण-योजना, जन-स्वास्थ्य, पशुसुधार, राजनीतिक ज्ञान आदि प्रदान करनेमें रिटायर्ड व्यक्तिका अहंभाव संतुष्ट हो सकता है।

जिस कार्यको जीवनभर करते रहे हैं, उसीको छोटे पैमानेपर किया जा सकता है, किसी मामूली नौकरीको कर लेनेसे भी कार्य आगे चलता है।

रिटायर्ड व्यक्तिको मनोरंजनका विशेष ध्यान रखना चाहिये। छोटे-छोटे जानवरों—(जैसे तोता, मैना, कबूतर, बिल्ली, कुत्ता, गाय, भैंस, बकरी इत्यादि) का पालना अच्छा शौक है। बागवानीका कार्य, फूल-फल-तरकारियाँ उगाना, अपने बगीचेमें साधारण श्रम करना, पौधोंको जल देना स्वास्थ्यप्रद है। पाश्चात्त्य देशोंमें अनेक रिटायर्ड व्यक्ति फूल उगाकर अपने अहंभावकी परितुष्टि करते हैं। इन वस्तुओंमें उनकी बड़प्पनकी भावना पूर्ण होती है।

मामूली खेल जैसे बैडमिण्टन, टेबिल टैनिस इत्यादि बड़े महत्त्वके

जाती है, तो चलती रहे; हम क्यों उससे विक्षुब्ध, अशान्त अथवा दुःखी हों? हम तो भगवान्‌के हाथमें एक यन्त्रमात्र हैं, ज्ञानदृष्टिसे एक द्रष्टा हैं। इन विषमताओं और कठोरताओंसे मुक्तिका रहस्य भगवान्‌ने स्वयं गीतामें स्पष्ट कर दिया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८। ६१)

'अर्जुन! ईश्वर सर्वप्राणिमात्रके हृदयमें विराजमान है और जगत्‌के सब प्राणियोंको यन्त्रपर चढ़े हुए (पट्टे) के समान इच्छानुसार चलाता है।'

जो कुछ भी मनुष्य करता है, सोचता-विचारता है, वह सब मनुष्य नहीं करता; संसारमें जो कुछ भी हो रहा है, ईश्वरके द्वारा ही हो रहा है। वही मुख्य प्रेरक शक्ति है! मनुष्य तो उसके हाथोंमें एक कठपुतलीके समान है।

जो व्यक्ति यह समझ बैठे हैं कि वे संसारके कार्य करते हैं, वे भारी भ्रममें फँसे हुए हैं। उनका अहंभाव वह मायाजाल उत्पन्न करता है। यही कष्टोंका मुख्य कारण है।

हम जीवात्मा हैं, ईश्वरके दिव्य अंश हैं। वह दिव्यता हमें उच्च जीवनकी ओर आकृष्ट करता है। जब हम अपनी आत्माके स्फुरणके अनुसार कार्य करते हैं, तब अपना देवत्व प्रकट करते हैं।

मनुष्यके सम्पूर्ण दुःख-चिन्ताओंका कारण यह है कि वह अन्तरात्मामें आनेवाले दिव्य ईश्वरीय आदेशोंकी अवहेलना करता है। उसे पता नहीं कि हम सबकी अन्तरात्मामें एक ऐसा देवता निवास करता है, जो सदा हमारे हितके कार्य करता रहता है। वह हमारे शरीरके जीवकोषोंको सदा उन्नति, अभिवृद्धि और सुन्दरताकी ओर अग्रसर करता है। हमारी शक्ति और सामर्थ्यका केन्द्र यही दैवी स्रोत है। अपनेको भगवदर्पण कर हम इसी दिव्य शक्तिसे अपना अभिन्न सम्बन्ध

स्थापित करते हैं।

जब आप दु:खी हों, बेचैनी और चिन्ता आपको सता रही हो, अपनेको भगवान्‌के सामने दीनतापूर्वक अर्पण कर दीजिये; मनकी उलझनें स्वतः शान्त हो जायँगी। जब मनमें निराशाकी घनघोर घटाएँ उमड़ रही हों, हृदयस्थ भगवान्‌का ध्यान करके सब वृत्तियाँ उन्हींमें लय कीजिये; मन हलका हो जायगा। क्रोध, भय, द्वेष, उद्वेगके अवसरोंपर यही भाव चित्तवृत्तिको शान्त और स्थिर करनेमें सहायक होगा।

आप जीवनमें यही मानकर प्रविष्ट हों कि ईश्वरकी दैवी शक्ति छायाकी तरह आपके साथ है। वह अणु-अणुमें व्याप्त है। आपके बाहर-भीतर सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्दकी वर्षा कर रही है; आप उसीके एक भाग हैं, उसीके दिव्य रहस्योंको प्रकट कर रहे हैं।

ईश्वरसे एकत्व स्थापित करना अपनी शक्तियोंको असंख्यगुनी बढ़ा लेना है।

प्रायश्चित्त कैसे करें ?

प्रायश्चित्त करनेकी योजना बनाते समय हमें एक क्षण भी यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि हम सब सत्-चित्-आनन्दमय परमात्माके दिव्य अंश हैं, इसलिये परमेश्वरके सभी दिव्य गुण बीजरूपमें हमारे गुप्त मनमें विद्यमान हैं।

यदि हम अपने व्यक्तित्वसे दैवी तत्त्वोंकी अभिवृद्धि करते रहनेका विचार कर लें और निरन्तर उसके लिये प्रयत्नशील रहें तो सद्‌गुणके विकासद्वारा दोषमुक्त हो सकते हैं। सर्वोत्तम प्रायश्चित्त यही है कि हमारे उच्चतर गुण विकसित हों; दुष्प्रवृत्तियाँ स्वयं फीकी पड़ जायँगी।

गलती और पापकी आदत तब मिटती है, जब आन्तरिक मनसे उसकी दुरुस्ती की जाय। ऊपरी ताड़नासे उसे दबा देना व्यर्थ है। उसे जब दबा देते हैं, तब फोड़ेमें पीबकी भाँति वह फूट निकलती है और भयंकर रूप ले लेती है।

प्रत्येक गलतीको दबानेके लिये उसके विरोधी सद्‌गुणको विकसित करनेकी आवश्यकता है। यदि आप चोरी करनेकी आदतका प्रायश्चित्त करना चाहते हैं तो सचाईको विकसित करना प्रारम्भ कर दीजिये; यदि कपट और मिथ्याचारसे मुक्ति चाहते हैं तो सदाचरण, सहयोग, सत्य और सेवाकी भावनाको बढ़ाते रहिये। यदि हिंसासे मुक्ति पाना है तो प्रेम, सहानुभूति और महत्त्वका दायरा बढ़ाइये।

महर्षि वाल्मीकि प्रारम्भिक जीवनमें बड़े भयंकर डाकू थे। अनेकोंको लूट-मारकर जीवनके लिये आवश्यक वस्तुओंका संग्रह किया करते थे। एक दिन उन्हें अपने पापमय जीवनका ज्ञान हुआ। प्रायश्चित्त कैसे करें ? वाल्मीकि विद्या-प्राप्ति, ज्ञानार्जन तथा शुभ-चिन्तनमें संलग्न हो गये। राम-नामका आश्रय लिये एक विद्वान्‌के रूपमें वे प्रसिद्ध हुए।

अंधा वह नहीं, जिसकी आँखें फूट गयी हैं। अंधा वह है, जो अपने

दोषोंको ढँकता है। दोष ढँके नहीं जा सकते, सद्‌गुणोंके विकासद्वारा उन्हें फीका किया जा सकता है। सद्‌गुणोंके विकासका मार्ग भी उतना ही सरल है, जितना दुर्गुणोंकी फैलती हुई कँटीली झाड़ीका। यदि हमारी दृष्टि अपनी प्रवृत्तियोंको थोड़ा-सा संयत करनेकी ओर रहे तो विकास सही दशामें हो सकता है।

सद्‌गुण दैवी सम्पत्ति है, जिसे अपने चरित्रमें धारण करनेसे मनुष्य उच्चस्थितिमें प्रविष्ट होता है। प्रत्येक सद्‌गुणसे मनुष्य सुवासित और प्रकाशमय हो जाता है।

हिंदू गृहस्थके लिये पाँच महायज्ञ

भारतीय शास्त्रकारोंने समस्त हिंदूजातिके उपकार तथा अधिकाधिक कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर पाँच ऐसे दैनिक कर्मोंका विधान रखा है, जिनसे जीवन पूर्ण बनता है। प्रत्येक बड़े कर्मको 'यज्ञ' शब्दसे सम्बोधित किया गया है, जिससे उसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

ये पाँच महायज्ञ हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ, (२) देवयज्ञ, (३) पितृयज्ञ, (४) अतिथियज्ञ और (५) भूतयज्ञ। 'शतपथब्राह्मण' नामक ग्रन्थमें इन पाँचोंका बड़ा माहात्म्य बताया गया है। यहाँतक कहा गया है कि 'जो पुरुष इनको यथाशक्ति नहीं करता, वह देवताओं, पितरों और ऋषियोंका सदा ऋणी रहता है।' जैसे किसी कर्जदारको सदा अपने कर्जको देनेका ही भय लगा रहता है, उसी प्रकार उपर्युक्त कर्मोंको न करनेवाला सदा मन-ही-मन डरता रहता है। उसका कल्याण नहीं होता और मनमें सुख-शान्ति नहीं रहती। अतः प्रत्येक महायज्ञका अर्थ समझ लेना चाहिये और यथाशक्ति अनुष्ठान करना चाहिये।

१—ब्रह्मयज्ञ

अर्थात् ब्रह्म (ईश्वर)-चिन्तन। यह दो प्रकारसे किया जा सकता है—

(१) वेदमन्त्रोंसे परमात्माकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना। दिनका प्रारम्भ इसी यज्ञसे प्रारम्भ होना चाहिये। ईश्वरीय उपासनासे मनुष्यका सम्बन्ध उच्च दैवी शक्तियोंके साथ हो जाता है और उसमें ब्रह्मतेजका उदय होता है। (२) स्वाध्याय। गृहस्थको चाहिये कि वह प्रातः नियमपूर्वक वेद, भगवद्गीता, रामायण, योगवासिष्ठ आदि सद्ग्रन्थोंमेंसे किसीका भी नित्यप्रति पाठ करे, उन्हें समझनेका प्रयत्न करे, उनपर विचार करे, अपने जीवनकी आलोचना करे और यथाशक्ति अपने आचरणको उसके अनुकूल बनाये।

स्वाध्याय हमारे आत्मविकासका एक प्रधान अंग है; इसलिये

उच्चतम ज्ञानसे परिचित होते रहना आवश्यक माना गया है। परमार्थचिन्तनके साथ स्वाध्याय होनेसे जीवन आनन्दसे व्यतीत होता है। स्वाध्यायमें कई बातें महत्त्वपूर्ण हैं—जैसे धर्मपुस्तकका गहरा अध्ययन; उसके अर्थोंपर पर्याप्त चिन्तन, विचार और श्रद्धापूर्वक उसपर आरूढ़ होनेका व्रत श्रद्धा और नियमका होना आवश्यक है, यदि कोई व्यक्ति केवल दूसरोंको दिखानेमात्रके लिये स्वाध्याय करता है तो वह ढोंग करता है अध्ययन और आचरणका संयोग होना चाहिये। स्वाध्याय छोड़ना नहीं चाहिये, अन्यथा पाप लगता है। उसमें आलस्य भी न होना चाहिये। इसीसे 'शतपथ' में कहा गया है—

'जल चलते हैं, सूर्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं।' इसी प्रकार स्वाध्यायका क्रम प्रतिदिन नियमपूर्वक चलना चाहिये। यदि कोई स्वाध्याय नहीं करता तो यह बात वैसी ही होती है, जैसे इन देवताओंके काम न करनेपर होती। इसलिये उत्तम व्यक्तिको नियमसे स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

२—देवयज्ञ

देवयज्ञका अर्थ है अग्निहोत्र, हवन, यज्ञ इत्यादि। इसे देवयज्ञ इसलिये कहा गया है कि इसमें दिव्य पदार्थोंद्वारा शास्त्रोंके मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए प्राकृत शक्तियोंकी शुद्धि तथा पुष्टि होती है। हवनसे वातावरण पवित्र बनता है, दिव्य भावनाओंका विकास होता है, प्राणिमात्रकी भलाई होती है। वायु शुद्ध होती है, वर्षाका जल शुद्ध और पुष्ट होता है, जिससे अन्नादि वनस्पतियाँ और ओषधियाँ अच्छी होती हैं। सद्-भावनाका प्रसार होता है। वेद-मन्त्रोंके उच्चारण और सामूहिक ईशचिन्तनसे परमात्माकी शक्तियोंका प्रकाश हमें मिलता है।

३—पितृयज्ञ

'पितृ' का अर्थ है हमारे बड़े। यह यज्ञ हमें उन सम्बन्धियोंके प्रति आदरका भाव रखना सिखाता है, जो हमसे बड़े हैं, पूज्य हैं, हमारे लिये हितकारी हैं, जो बाल्यावस्थासे लेकर बड़े होनेतक हमारी रक्षा करते रहे हैं। इन्हें हम सम्बन्धानुसार बड़े नामोंसे पुकारते हैं—माता, पिता,

पितामह, पितामही, प्रपितामह, प्रपितामही इत्यादि। ये सब पितर कहलाते हैं।

दूसरे प्रकारके पितर हैं—महात्मा, ऋषि और मुनि जो हमारे धर्मग्रन्थोंके निर्माता हैं। इन्होंने जीवनको अच्छी तरह देखा है, अनुभव किया है और वे सचाइयाँ निकाली हैं, जो शास्त्रोंके रूपमें हमारे निकट विद्यमान हैं। तीसरे प्रकारके पितर वे देवी-देवता हैं, जो ईश्वरीय शक्तियोंके प्रतीक हैं और सदा हमारे चारों ओर कल्याणकारी वातावरणकी सृष्टि करते हैं, संहारक-विनाशकारी शक्तियोंको हटाते हैं और हमें पोषक शक्ति देते हैं। चौथे वे हैं, जिनकी मृत्यु हो चुकी है। इस यज्ञद्वारा उपर्युक्त सभी प्रकारके पितरोंके प्रति श्रद्धा दिखानेका विधान है।

यह कार्य दो प्रकारसे किया जाता है। पहला उपाय है श्राद्ध और दूसरा तर्पण अर्थात् पहला उपाय तो यह है कि पितरोंके वचनों और चरणोंमें असीम श्रद्धा रखना और दूसरे उस श्रद्धासे उनकी सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें तृप्त करना। हमें चाहिये कि जीवित पितरों (समस्त गुरुजनों) के प्रति अपनी श्रद्धा रखते हुए उनकी आज्ञाका पालन करें, उनकी सेवा करें, अपने-आप दुःख उठाकर उनको सुख पहुँचायें, भोजन-वस्त्रादिद्वारा उन्हें प्रसन्न रखें।

मृत पितरोंके उपकारोंका स्मरण-चिन्तन करते हुए उनको सद्भावसे धन्यवाद देना, स्वयं उनके सदाचरणको अपने जीवनमें धारण करना, उनकी प्रचार की हुई सचाइयोंका प्रचार करना, उनकी स्मृतिमें कुएँ, तालाब, धर्मशालाएँ और अन्य परोपकारी संस्थाएँ खुलवाना— ये सब पितृयज्ञके अन्तर्गत ही हैं। इसमें पितृ-संज्ञक शक्तियोंका आदर करना इष्ट है। इस आदरभावसे हम स्वयं अपना ही हित करते हैं; क्योंकि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपसे हमें पितरोंकी सद्भावनाएँ मिलती रहती हैं।

४—मनुष्य-यज्ञ या अतिथि-यज्ञ

हिंदू-संस्कृति अतिथिको भी देवता मानकर श्रद्धा करना सिखाती है। अतिथिका समयके अनुसार सेवा-सत्कार करना हमारा धर्म है।

यदि भोजनके समय या अन्य कभी कोई परिचित या अपरिचित व्यक्ति घरमें आ जाय तो उसको मधुरभाषण, जल, आसन, भोजन, वस्त्र इत्यादि देकर सत्कार करना अतिथि-यज्ञको पूरा करना है। यदि कोई व्यक्ति हमारी सहायता या सहयोग चाहे तो यथासाध्य हमें अवश्य देना चाहिये।

५—भूत-यज्ञ या बलिवैश्वदेव

'भूत' शब्दका अर्थ है 'जीव'। ऊपर मनुष्य-जातिकी भलाईका विधान स्पष्ट किया गया है। किंतु हिंदू-संस्कृति बड़ी उदार है। वह केवल मनुष्यकी ही नहीं, वरं जीवमात्रकी भलाईमें विश्वास करती है।

इस यज्ञमें पशु-पक्षी तथा आदि उपकारी तत्त्वोंके संरक्षण, पालन-पोषण और सेवाका विधान है। ये सभी 'भूत' शब्दमें आ जाते हैं। हमारा जीवन पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति इत्यादि सबपर टिका हुआ है। गौ, बैल-जैसे उपकारी पशु और मोर, हंस, तोता, पुष्प इत्यादि हमारे नित्यप्रतिके मित्र हैं। वृक्ष हमें फल-भोजन इत्यादि देते हैं। फूलोंके पेड़ोंसे घर-उद्यानकी शोभा बढ़ती है। उनकी हरियाली हमारे मनको हरा कर देती है। हिंदू-संस्कृतिने भूत-यज्ञके अन्तर्गत हमें यह शिक्षा दी है कि हम पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति-जैसे उपयोगी और कल्याणकारी तत्त्वोंके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करें।

यह दो प्रकारसे सम्भव है। जहाँ पशु-पक्षियोंके लिये उचित भोजन या जलका प्रबन्ध नहीं है; वहाँ गोशाला या पशुशालाओंका प्रबन्ध करना, पशुओंके लिये जल पीनेके स्थान बनवाना, पुराने कुएँ तालाबोंकी मरम्मत करवाना और बीमार पशुओंके निःशुल्क इलाजका प्रबन्ध करना। गौ पालना या दूध देनेवाली गौका दान करना। दूसरे, वृक्षारोपण करना और पुराने वृक्षोंकी सेवा-सहायता करना, उद्यान लगाना, पौधोंको सींचना। इस प्रकार हमारी संस्कृतिमें अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंकी सेवाका विधान है। भारतीय संस्कृतिके पुनः स्थापनद्वारा कैसा मनोरम दृश्य उपस्थित हो जाता है, इसका वर्णन एक कविने किया है—

यत्र नास्ति दधिमन्थनघोषो
यत्र नो लघुलघूनि शिशूनि॥
यत्र नास्ति गुरुगौरवपूजा
तानि किं व्रत गृहाणि वनानि॥

अर्थात् 'जहाँ दूध बिलोनेका घोष नहीं सुनाई देता, जहाँ छोटे-छोटे बच्चोंके खेलने-कूदनेका कोलाहल नहीं सुन पड़ता और वृद्ध-जनोंकी पूजा नहीं होती, वह घर नहीं बल्कि एक तरहका जंगल है।' इसी प्रकार वाटिकामें छोटे-छोटे वृक्षोंको हरे-भरे देखना, पेड़ोंको अपने हाथसे सींचना, उनके फूलों-पत्तोंको सँवारना अद्भुत आनन्दकी सृष्टि करनेवाला है।

इस प्रकार अधिक सुख और शान्तिके लिये प्रत्येक सद्गृहस्थको उपर्युक्त पाँच कर्म अवश्य करने चाहिये। हमारा जीवन ऐसा हो, जिससे अधिक-से-अधिक लोगोंकी भलाई और उन्नति हो सके। समस्त समाजमें हमारी अपनी ही आत्माका विस्तार दिखायी दे रहा है। एक ही ईश्वरका नाना रूपोंमें प्रकाश है। इस दृष्टिसे यह सब हमारा ही एक परिवार है। सब हमारे बन्धु-बान्धव ही हैं। हमारा सबके साथ एक रक्तका सम्बन्ध है। यदि हम किसीका बुरा करते हैं या उसे ठगनेकी चेष्टा करते हैं तो वास्तवमें हम अपना ही बुरा करते हैं और अपने-आपको ही ठगते हैं।

रहो और रहने दो!

मनुष्यो! तुम संसारमें आनन्द और शान्तिसे जीवन व्यतीत करनेके लिये आये हो। तुम्हारे मन, वचन और कर्ममें वे शुभ शक्तियाँ रखी गयी हैं, जो संसारभरके लिये कल्याणकारी हैं। तुम्हारे स्वयंके कार्योंकी संसारके सुख-शान्तिपर प्रतिक्रिया होती है। यदि तुम्हारे संकल्प अच्छे हैं और कार्य उत्तम भावोंसे होते हैं, तो निश्चय ही तुम संसारकी सुखवृद्धि कर सकोगे।

तुम संसारमें आनन्दपूर्वक रहना चाहते हो तो दूसरोंको आनन्दपूर्वक रहने दो। तुम यदि समझते हो कि दूसरोंको सतानेसे तुम्हारा कुछ नहीं

बिगड़ता तो यह तुम्हारा भ्रम है। वास्तवमें तुम्हारी ठगी, धोखेबाजी, अत्याचार स्वयं तुम्हें ही नष्ट करते हैं। तुम अपनी ही आत्माका हनन करते हो।

समाजमें कोई भी अलग नहीं है। सब एक बड़े शरीरके अंग हैं। पूरा समाज एक विशाल शरीर है। क्या तुम यह पसंद करोगे कि तुम्हारे शरीरका एक हाथ दूसरे हाथको काट डाले; एक पाँव दूसरे पाँवको चोट पहुँचाये, दाँत खुद तुम्हारी जीभको काट डालें, हाथ सिरको तोड़ डालें। नहीं, तुम यह कदापि पसंद नहीं करोगे। इससे तुम्हारा अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा।

इस मानवसमाजके भिन्न-भिन्न व्यक्ति भी इसी प्रकार तुम्हारे सामाजिक शरीरके अंग-प्रत्यंग हैं। कोई व्यक्ति हाथकी तरह है, कोई आदमी पाँवोंकी तरह; कोई नेत्र है तो कोई कान, नाक, मुँह, हृदय, जिगर और फेफड़ोंकी जगह है। सबके परस्पर मिलकर चलनेसे ही समाज विकसित होता है, आगे बढ़ता है और पनपता है।

यदि तुम किसी व्यक्तिपर हिंसा, बलात्कार, झूठ, कपट या अत्याचार करते हो तो वास्तवमें स्वयं अपने-आपको ही घायल करते हो। यदि तुम रहनेका अधिकार माँगते हो तो दूसरोंको स्वतन्त्रतापूर्वक आनन्द और निर्भयतासे जीते रहने दो।

तुम दूसरोंको अधिक दिन धोखेमें न रख सकोगे। एक-न-एक दिन तुम्हारा पाप प्रकट हो जायगा। फिर तुम्हें जो अपमान सहन करना पड़ेगा, उसकी पीड़ा सहस्त्रों बिच्छुओंके डंक मारने-जैसी होगी। पापपर अधिक दिनतक पर्दा नहीं डाला जा सकता।

दुर्योधन समझता था कि भरी सभामें द्रौपदीकी मानहानि करके वह कोई पापकर्म नहीं कर रहा है। कंस समझता था कि देवकीके पुत्रोंकी हत्या करनेमें कुछ अनुचित नहीं है। रावण समझता था कि महासती सीताका अपहरण कर लंका ले जानेमें कुछ भी बुराई नहीं है। बालि स्वयं अपने भाईकी सम्पत्ति हड़पने और सतानेमें दुर्व्यवहार नहीं मानता था।

किंतु पाप तो सिरपर चढ़कर बोलता है। पापीको नष्ट कर देता है। दुर्योधन, कंस, रावण, बालि आदि सबके पाप ही उन्हें खा गये, सदाके लिये श्मशानमें जलकर वे राख हो गये और छोड़ गये अपने पापोंकी काली छाया! पाप अथवा दुराचार चाहे कैसे भी क्यों न हो, मनुष्यका सपरिवार नाश कर देता है।

पाप कभी-न-कभी, देर-सबेर अवश्य प्रकट होता है और सर्वनाशका कारण बनता है।

तुम्हारी ईमानदारी, सज्जनता, सचाई, निष्पक्षता आदिका बच्चोंपर, आनेवाली नयी पीढ़ीपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जैसे स्वयं माता-पिता होते हैं, वैसे ही उनके पुत्र-पुत्री आदि होते हैं। पापाचारके वातावरणमें पले हुए बच्चे स्वभावतः दुष्ट हो जाते हैं।

सद्‌गृहस्थीमें हमारे मनोविकार स्वच्छ होते रहते हैं, उनका विष दूर होता रहता है। बच्चों और धर्मपत्नीके सुखद सम्पर्कमें लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकारोंका शोध होता है। इसलिये ईमानदारीका जीवन ही हर प्रकारसे वरणीय है, पूरे समाजका हित करनेवाला है।

अत्याचार, अन्याय, हिंसा, झूठ, कपट, व्यभिचार तुम्हारी आत्माके गुण नहीं हैं। इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्द्रियाँ तुम्हें गुलाम नहीं बना सकतीं।

तुम तो निर्विकार सत्-चित्-आनन्द आत्मा हो। पूर्ण शान्त आत्मा हो। स्वतन्त्र हो। स्वच्छ हो। न्यायकारी हो। मानसिक संतुलनसे पूर्ण हो। परमात्मा सर्वव्यापी और न्यायकारी है। आत्माके रूपमें वह तुम्हारे अन्दर विराजमान है। विवेकको सर्वोपरि मानना, दिव्यशक्तियोंका विकास करना, मानवताको ऊँचा उठाना—इन सत्यप्रवृत्तियोंमें ही तुम्हारी महत्ता संनिहित है।

मनुष्यत्वको जीवित रखनेका उपाय—अर्थशौच

मनुजीका कथन है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

आज मानव-समाजमें जो अशान्ति दिखायी दे रही है, उसका एक महान् कारण अर्थशौचका अभाव है। हमारा जीविकोपार्जन शुचि अर्थात् पवित्र तरीकोंसे नहीं हो रहा है। 'अर्थशौच' का अर्थ है कि हम जो धन कमायें, वह पवित्रता, सचाई, ईमानदारी और परिश्रमसे ही कमायें। धनका उपार्जन धार्मिक दृष्टिसे ही हो। उसमें अनुचित उपायोंका अवलम्बन न किया जाय। सद्गृहस्थको यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं उसकी कमाईमें कोई अधर्मका पैसा न आ जाय। अधर्मकी कमाई ही दुःखोंकी जड़ है। अधर्मका पैसा एक प्रकारकी अग्नि है, जो ईमानदारीकी कमाईको भी नष्ट कर देती है।

एक बारकी बात है, एक दूधवाला दूधमें पानी मिलाकर बेचा करता था। आधा दूध तो आधा पानी। उसे सच्चा समझकर लोग उसका दूध खरीदते थे। दो-एक बार किसीको संदेह भी हुआ; उसे सावधान भी किया गया; किंतु वह न माना। उसकी कपड़ेकी थैली रुपयोंसे भरती गयी। उसे देख-देखकर वह बड़ा प्रसन्न होता। प्रायः चुपचाप अपने रुपयोंको गिना करता। एक दिन संयोगवश थैलीको एक बंदर उठा भागा और एक वृक्षपर जा बैठा। वृक्ष एक नदीके किनारे लगा हुआ था। दूधवाला बहुत चीखा-चिल्लाया, भागा-दौड़ा। बंदरको बहुत-से प्रलोभन दिये गये, पर वह न माना। एक मुट्ठी रुपये ग्वालेकी ओर फेंक देता, दूसरी मुट्ठी नदीमें फेंक देता। यह क्रम बहुत देरतक यों ही चलता रहा। ग्वाला नदी-किनारे खड़ा-खड़ा रोता रहा।

अन्तमें सारी थैली खाली हो गयी। ग्वालेके पास आधी रकम ही शेष रही। यह उसकी वह कमाई थी जो वास्तवमें उसे मिलनी चाहिये थी। धर्मकी कमाई ही बचती है।

हमें एक परचूनके दूकानदारने अपनी आर्थिक हालतके बारेमें सुनाते हुए कहा था—'आजकल मेरी यह छोटी-सी दूकान आप देखते हैं, किंतु मैंने अपने जीवनमें बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव देखे हैं। हजार-हजार रुपये कमाये और खर्च किये हैं।'

हमने पूछा—'हजार रुपये कमानेवाला गिरता-गिरता भी दो-चार सौसे कम क्या कमायेगा? यह सब क्या क्यों कैसे हुआ रे?' वह पुनः बोला, 'मैंने एक छोटी-सी रकमसे काम शुरू किया था। दूकानपर एक नौकर था। कुछ पैसे जमा किये; फिर अकेले अपनी दूकान चलायी। उसमें साधारणतः अच्छी रोटी मिलने लगी। तृष्णाएँ बढ़ चलीं। तृष्णाका वेग बड़ा बलवान् है। आरम्भमें यह लक्षित नहीं होती, किंतु धीरे-धीरे भीतर-ही-भीतर बढ़ती जाती है और अन्तमें तो इतनी बढ़ जाती है कि मनुष्यको अंधा कर देती है। मुझे सट्टेका शौक लगा। मेरा संग एक ऐसे व्यक्तिसे हुआ जो सट्टेसे धनिक बन गया था। मैंने भी वही प्रारम्भ किया, आय अनाप-शनाप बढ़ती गयी। बढ़ते-बढ़ते मेरी आय हजार रुपये महीनेतक हो गयी। धनकी लालसा फिर भी बढ़ती गयी। धन ही मेरा साध्य बन गया। मैं अपने सामने किसीको कुछ भी न समझता था। एक दिन जब मैं अपनी प्रतिष्ठाके सर्वोच्च शिखरपर था, पासा यकायक पलटा। एक ही दाँवमें मैं सब हार गया। वरं कुछ ऋण भी हो गया। उसे अपनी चीज और घरवालीका जेवर बेचकर चुकाना पड़ा। जैसे वह धन आया था, वैसे ही पलक मारते चला गया और मुझे पहलेसे कहीं दीन-हीन छोड़ गया। अब मैं फिर अपनी पुरानी दूकानपर वैसे ही थोड़ा-बहुत कमाकर निर्वाह करता हूँ।'

धनसे मोक्षके अनेक साधन इकट्ठे किये जा सकते हैं, पर संसारके सभी पदार्थ गुण-दोषमय होते हैं। धन भी ऐसा ही है। समझदार

मनुष्यका यह काम है कि वह पदार्थोंका इस रीतिसे उपयोग करे, जिससे उसको गुणोंका लाभ मिले, दोष दूर ही रहें। धनको यदि ईमानदारी और धर्मसे न कमाया जाय तो उसमें विष-जैसा असर आ जाता है, वेश्याएँ जितना धन कमाती हैं, उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। चोर-डाकू लूट-मार करके बहुत-सा धन कमाते हैं न कभी वेश्याको किसीने फूलते-फलते देखा है, न चोरकी झोपड़ीपर फूँस रहा है। रुपयेसे लदी रहनेवाली वेश्याकी अन्तगति भयंकर यातनाओंसे भरी होती है। कोई उसे कफन भी देनेवाला नहीं मिलता। नगर-पालिकाके अनाथ फण्डसे भंगी उसका शरीर फूँकते हैं। इसी प्रकार डकैत या तो पुलिसकी गोलीका शिकार बनते हैं अथवा सड़-सड़कर जेलके सीखचोंमें मरते हैं। यह है पापकी कमाईका विष, जो अन्त समयतक दण्ड देता रहता है।

जिस प्रकार एक स्थानपर पड़ा हुआ जल दुर्गन्धादिसे दोषयुक्त हो जाता है, उसी प्रकार यज्ञ-दान, धर्म-कर्ममें व्यय न किया हुआ धन भी प्रमाद आदि दोष उत्पन्नकर धनीको नष्ट करता है और स्वयं भी नष्ट हो जाता है।

कहते हैं कि एक बार गुरु नानक किसी गाँवमें गये तो समस्त गाँववालोंने उनका खूब आदर-सत्कार किया। गाँवके जमींदारने यह सुना तो नानकजीको दावत दी। अनेक सुस्वादु भोजन, मिठाइयाँ और सब्जियाँ बनवायीं, बड़ी धूमधाम रही।

उधर एक गरीब किसान भी श्रद्धा-भक्तिसे भरा गुरुजीके लिये ज्वारकी मोटी-मोटी रूखी रोटियाँ लाया। गुरुजीके सामने दोनोंका भोजन था। एक ओर जमींदारके बढ़िया पकवान, दूसरी ओर ज्वारकी सूखी रोटियाँ।

'गुरुजीने किसानकी रोटियाँ ले लीं और बड़े स्वादसे उन्हें खाया।'

'जमींदार क्रुद्ध था। उसने इतने बढ़िया-बढ़िया पकवान, भोजन, मिठाइयाँ इतने व्ययसे इतने कुशल रसोइयोंसे बनवायी थीं। उससे न

रहा गया। उसने गुरुजीसे पूछा—

'महाराज! आपने मेरा भोजन ग्रहण न कर इस गरीब किसानकी ज्वारकी सूखी रोटियाँ क्यों ग्रहण की हैं।'

गुरु बोले—'अपनी रोटियाँ इधर लाओ।'

फिर गुरुजीने जमींदारकी रोटीको निचोड़ा तो उसमेंसे खूनकी बूँदें टपकने लगीं। लोग यह चमत्कार देखकर चकित थे। उसके बाद उन्होंने उस किसानकी रोटीको निचोड़ा। जनताने देखा कि उसमेंसे दूधकी बूँदें टपकने लगीं।

गुरुजी बोले—'ये रक्तकी बूँदें उन गरीबोंकी हैं, जिनसे जुल्म, अत्याचार, मारपीट, बेईमानीके हिंसक प्रयोगद्वारा रुपया लूटा गया है। यह धन अधर्मसे इकट्ठा किया गया है। दूसरी ओर इस किसानने धूपमें कठोर परिश्रम और पुरुषार्थ करके पसीनेकी कमाईसे ये रूखी ज्वारकी रोटियाँ बनाई हैं, धर्मको सदा सामने रखा है। यह न झूठ बोला है, न किसीपर अत्याचार, छल-कपट किया है। इसका पैसा सत्य, न्याय और धर्मके अनुकूल है। ऐसी कमाईमें समृद्धि और लक्ष्मीका निवास है। जैसा भाव होता है, वैसी ही बुद्धि बनती है। जैसी बुद्धि होती है, वैसा ही अन्न कमाया जाता है, जैसे उपायोंसे अन्न कमाया जाता है, उसमें वैसे ही गुण-अवगुण आ जाते हैं। पापकी कमाईसे मुक्त रहो।'

'यह सुनकर जमींदारको सब पुरानी बातें याद आने लगीं। उसने स्मृतिके कोषमें देखा कि उसका असंख्य धन, जिसपर उसे इतना अभिमान था, अनाथोंपर निर्मम अत्याचार, झूठ, फरेब, मिथ्याचार करके कमाया गया था। इसी कारण उसका आतिथ्य अस्वीकार किया गया था।'

श्रीभगवद्गीतामें वैश्यके स्वभावजन्य कर्मोंके विषयमें कहा गया है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

अर्थात् 'खेती, गौओंकी रक्षा, व्यापार वैश्यके स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले कर्म हैं।' पर उसे भी चाहिये कि जो धन कमाये, वह

सत्यतासे व्यापारसे अर्जित करे। वैश्यको उचित है कि धर्मानुकूल व्यवहार करता हुआ धनोपार्जन करे, यह ध्यान रखे कि उसके पास अधर्मकी एक पाई भी न आने पाये। बेईमानी, ठगी, चोरबाजारी, कम तौलकर या किसी ग्राहकका जी दुखाकर जो धन कमाया जाता है, वह न केवल पापकी कमाई है, अपितु बड़ा दुःखदायी भी है। पापसे धन कमानेवालेका चित्त अशान्त रहता है, समाज और इष्टमित्रोंमें उसकी निन्दा और अपयश होता है, ऐसा धन कमानेवाले विषयभोगमें रचे-पचे रहकर यह लोक और परलोक दोनों बिगाड़ लेते हैं। अधर्मकी कमाई कमानेवालेको नष्ट कर फिर स्वयं भी नष्ट हो जाती है।

हमारे यहाँ धनको लक्ष्मी कहा गया है। लक्ष्मी हमारे धनकी देवी हैं। इसका दूसरा अभिप्राय यह है कि हम धनको देवीके रूपमें पूज्य, पवित्र और धर्मकी वस्तु मानते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंमें भी हमने अर्थको स्थान देकर अर्थशौचका महत्त्व स्पष्ट किया है। जब हम लक्ष्मीजीकी पूजा करते हैं, तब अप्रत्यक्ष रूपसे हम यह कहते हैं कि 'हे लक्ष्मीदेवि! हम जो कुछ जीविकोपार्जन करेंगे,उसमें तुम हमारी सहायक रहोगी, हम केवल धर्मकी ही कमाई लेंगे। धर्मकी कमाई ही खायेंगे, उसीसे विद्या पढ़ेंगे, यज्ञ करेंगे, दान देंगे। तुम हमारी मतिको सत्य, न्याय, धर्मकी ओर रखोगी। हमारे साथ सदा न्यायभाव रहेगा। यदि हम अनजानमें अर्थशौचका पालन न कर सकेंगे तो हम अपने पापके लिये दण्डके भागी होंगे। हम केवल अपने परिश्रमकी कमाईका ही स्पर्श करेंगे।'

एक बार एक महात्मा भिक्षाके लिये एक धनी व्यक्तिके द्वारपर पहुँचे और बोले—'बच्चा! हमें अपनी ताजी कमाईमेंसे कुछ भिक्षा दो।' धनिक कुछ न समझा। उसने महात्माको आदरसे बैठाया। अंदरसे एक बर्तनमें भिक्षा लाया और बोला—'महाराज! लीजिये। भिक्षा।'

महात्माने उसे देखा और उत्तर दिया, 'बच्चा मैं तो तेरी ताजी कमाईसे भिक्षा माँगता हूँ।'

धनिक—'महाराज! ताजी कमाईसे आपका क्या तात्पर्य है?'

महाराज—'बच्चा! यह तो तुम्हारे बाप-दादाकी कमाई है। उनकी भुजाओंने इसे कमाया था। उनके परिश्रमसे यह अर्जित हुई। उनके स्वर्गवासी होनेपर यह तुम्हारे हाथमें चली आयी। जबतक उनके हाथमें थी, यह ताजी कमाई थी। तुम्हारे हाथमें आकर यह बासी, निष्प्राण हो गयी। इसमें तुम्हारा समय, भुजाओंका बल या मानसिक परिश्रम—कुछ भी तो नहीं लगा। गृहस्थको स्वयं धनोपार्जन करना चाहिये और अपनी पाँच उँगलियोंकी कमाईसे ही दान करना चाहिये। अपनी धर्मकी कमाईसे ही दान करना चाहिये। अपनी धर्मकी कमाईसे ही दान देनेसे पुण्य-फल प्राप्त होता है। नीति कहती है कि 'धनको धर्मसे ही कमाये। अनुचित पैसा कदापि न ले। कमाये हुए धनकी धर्मसे ही रक्षा करे और रक्षा किये हुए धनका धर्ममें यथाशक्ति व्यय करे।'

यह कहकर महात्मा चले गये। धनिकको सोचनेके लिये एक नयी दिशा मिली। वह समझता था कि दूसरोंसे उसके पास आयी हुई कमाईके दानसे उसे पुण्य-फल मिलेगा, पर उसकी यह धारणा निर्मूल निकली। अपने पसीनेकी कमाई करनेकी उसे प्रेरणा मिली।

वेदमें कहा गया है—

'देवो देवेषु वनते ही वार्यम्' (ऋग्वेद ६। ११२)

धन उन्हींके पास ठहरता है, जो सद्‌गुणी हैं। दुर्गुणीकी विपुल सम्पदा भी स्वल्पकालमें नष्ट हो जाती है।

'रमन्तां पुण्याः लक्ष्मीः' (अथर्ववेद ७। ११५। ४)

ईमानदारीकी कमाईका धन ही ठहरता है। बेईमानीकी आयसे कोई फूलता-फलता नहीं।

संग्रह करने या विलासिताके लिये धन नहीं है। सबका कल्याण, सबकी सहायता और सबको आगे बढ़ानेके लिये धन कमानेका विधान है।

'नराय दानाय चोदय' (अथर्ववेद ३। २०। ५)

हे मनुष्यो! धनका दानमें विनियोग करो।

'कस्य स्विद्धनम्।' (यजुर्वेद ४०। १)

धन किसी व्यक्तिका नहीं सम्पूर्ण राष्ट्रका है। धनपर कब्जा जमाकर मत बैठो, वरं उसका सदुपयोग करो।

ईमानदारी और धर्मकी कमाईसे ही हमें आन्तरिक सुख और शान्ति मिल सकती है। बेईमानीकी कमाई चाहे एक पीढ़ीतक टिक जाय, पर फिर कुसंतानद्वारा नष्ट हो जाती है। दुराचारी अमीरोंकी संतान निकम्मी, आलसी और दुश्चरित्र होती है। वह सारी संचित सम्पत्ति नष्ट कर देती है। अधर्मके पापसंस्कार ही उसे नष्ट कर देते हैं।

आज मनुष्य संकटमें है। अर्थशौचके अभावमें हम मनुष्यत्वकी कुछ भी परवा नहीं करते। असत्य व्यवहार, झूठ, कपट, मिथ्याचारद्वारा अधिक रुपया लूटनेकी पाशविक इच्छा हमें मानवके दिव्य गुणोंका संग्रह नहीं करने देती। हम अपने परिचित बन्धुतकको ठगकर किसी प्रकार धनसम्पन्न हो जाना चाहते हैं। रिश्वत, खाद्य पदार्थोंमें मिलावट, कपट और धोखेबाजी तभी दूर की जा सकती है, जब अर्थशौचकी भावना हमारे मन और सामाजिक आचार-व्यवहारमें रहे। पापकी कमाईके प्रति हम घृणा करें। जिसपर हमारा श्रम या शक्ति नहीं लगी है, ऐसी कमाईको हम स्पर्शतक न करें। यदि कोई इस प्रकारकी कोई वस्तु या रुपया हमें दे भी तो हमें उसका विरोध करना ही उचित है। जितना हम ईमानदारीसे कमायें, उसीमें हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण होती रहें—यही हमारा प्रयत्न होना चाहिये। अर्थशौचके नियमके पालनसे ही हमारे मनुष्यत्वकी रक्षा हो सकती है। उसके अभावमें तो हम पिशाच ही बन सकते हैं, मनुष्य नहीं!

पाठका दैवी प्रभाव

'आत्मश्रद्धा वह तत्त्व है जो मनुष्यकी गुप्त आध्यात्मिक शक्तियोंका द्वार खोलकर आश्चर्यजनक शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य लाभ कराता है और चिन्ताओंको दूर करता है। हम श्रद्धापूर्वक जो कार्य करते हैं, उसमें हमें दैवी सहायता प्राप्त होती है। बिना श्रद्धाके पूजा, अर्चना, प्रार्थना, पाठ, भजन इत्यादिका कोई अर्थ नहीं। सब निष्फल ही रह जाते हैं। जिन व्यक्तियोंको इन आध्यात्मिक प्रक्रियाओंमें श्रद्धा नहीं है, उन्हें इनको करनेसे भी कोई लाभ नहीं होता। जिन्होंने अटूट श्रद्धासे इन शक्तियोंसे लाभ उठाया है, उनके अनुभव बड़े प्रेरक हैं। एक ऐसी ही आध्यात्मिक वृत्तिवाले महानुभावका अनुभव मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

इन महोदयका नाम श्रीसूरजबल शर्मा है। आप नजीबाबाद-(जिला बिजनौर, यू० पी) के निवासी हैं। आयु ५५ वर्षके लगभग है। ७ जून, १९५५ को वे अपनी बदरीनाथ और केदारनाथकी यात्रासे वापस आकर एक दिनके लिये हमारे अतिथि बने थे। उन्होंने अपने जीवनकी एक आपबीती इस प्रकार सुनायी—

शर्माजी बोले, 'दो वर्ष पूर्वकी बात है। पिछले दिनों मैं भयंकर मानसिक और शारीरिक आधि-व्याधियोंमेंसे होकर निकला हूँ। सन् १९५१ में चार मास बीमार रहनेके पश्चात् मेरे एक पुत्रकी अकस्मात् मृत्यु हो गयी। मनपर गहरा आघात लगा। उसकी चिकित्सा करानेमें यत्र-तत्र बहुत दिनोंतक मारा-मारा फिरा था। व्यय भी बहुत किया था, किंतु उसे न बचा सका। भागदौड़ और निरन्तर मानसिक तनावके कारण स्वयं बीमार पड़ गया।

'पेटकी बीमारी थी। पहले भूख कम होने लगी। घटते-घटते एक स्थिति ऐसी आयी कि जो खाता उलटी हो जाती। कुछ भी हजम होना कठिन हो गया। यहाँतक कि जो जल पीता वह भी हजम नहीं होता

था। शरीरमें जब कुछ न पहुँचा, तो यह कृश होता गया। मैं अस्थिपंजरमात्र रह गया। फिर भी पेटमें दर्द रहा। चिकित्सा बहुत की। डॉक्टरोंका मत था कि यह अँतड़ियोंकी टीबी० (तपेदिक) हो गयी है तथा उसकी चिकित्साके लिये किसी बड़े विशेषज्ञके पास जाना चाहिये।

'एक टी०बी० विशेषज्ञ लैन्सडाउनमें रहते थे। उन्हींके पास जानेकी सलाह दी गयी। मरता क्या न करता। बहुत व्यय हो चुका था, पर जीवनमें बड़ा मोह है। मैं उनके पास गया। जनवरीका महीना था। ठन्डक बहुत पड़ रही थी। इधर मैं बीमार आदमी, उसपर निर्बल। उनकी चिकित्सा चल ही रही थी कि एक दिन अचानक जगा तो मालूम हुआ, जैसे पाँव नहीं हिल रहा है। मेरे पाँवको क्या हुआ? मैं आश्चर्यमें था। डॉक्टरने बतलाया, उस टाँगपर लकवेका प्रभाव है। उफ! तो क्या मैं लकवेसे मर जाऊँगा। एक ओर पेट ही परेशान किये हुए था, उसपर लकवा। अब भला जीनेकी क्या आशा थी?

डॉक्टरोंने कहा, 'बम्बई जाइये। वहाँ इस रोगके विशेषज्ञ हैं। विलायतमें इसकी चिकित्सा होती है।'

मैं साधारण हैसियतका व्यक्ति, भला बम्बई या विलायत जानेकी स्वप्नमें भी क्या आशा कर सकता था? जो कुछ जहाँ मिला खाया, डॉक्टरोंसे बहुत दवाई करायी। अन्ततः निराश, निरुपाय, थका-हारा अपने घर नजीबाबाद लौट आया। मैं कमजोर होते-होते ऐसा हो गया था कि चारपाईपर ही शौचादिसे निवृत होता था। एक-एक दिन मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहा था। जीवन-दीप टिमटिमा रहा था। एक डॉक्टर साहबने तो यहाँतक भविष्यवाणी की कि यह सावन आप न देख सकेंगे। यह आषाढ़के महीनेकी बात है।

'मैंने सोचा, जब मरना ही है तो परहेज भी क्यों किया जाय। सब इच्छाएँ पूर्ण करूँ। जिस चीजको मन करे, खाऊँ।' अतः सब कुछ छोड़ अन्तिम दिनकी प्रतीक्षा होने लगी।

'एक दिन देवीके मन्दिरमें गया। बैठकर जीवन-मरणपर विचार

कर रहा था। मृत्यु क्या है? कैसी है? आत्माका स्वरूप क्या है? अनेक छोटे-बड़े प्रश्न मनमें तूफान मचा रहे थे। इतनेमें क्या देखता हूँ कि एक साधु-महात्मा मन्दिरमें प्रविष्ट हो इधर आ रहे हैं।'

'उन्होंने मुझसे चिन्ताका कारण पूछा। मैंने अपनी बीमारीकी सम्पूर्ण कहानी आदिसे अन्ततक सच-सच कह सुनायी। वे दयार्द्र हो उठे।'

बोले, 'सब कुछ तुम कर बैठे, पर एक डॉक्टरकी दवा शेष रह गयी है। उसका भी इलाज कर देखो। बड़ा चमत्कारी डॉक्टर है। ऐसे-ऐसे आश्चर्यजनक कार्य करता है कि असाध्य रोगतक ठीक हो जाते हैं। उस डॉक्टरकी प्रसिद्धि सर्वत्र फैल रही है।'

'मैंने पूछा, 'वह कौन डॉक्टर है?' उन्होंने कहा, वह डॉक्टर हैं भगवान्। भगवान्का इलाज भी कर देखो।' मेरे पास कोई उत्तर न था? मैंने सिर झुका दिया।

'उन्होंने चिकित्सा-विधि बतलायी, 'जलके स्थानपर प्रत्येक बार गंगाजलका ही सेवन कीजिये। जब प्यास लगे, गंगाजल लीजिये और उसके साथ तीन माशे पिसी हुई सोंठ खाते रहिये। २१ दिनतक कोई भोजन न खाइये। आपका भोजन केवल सोंठ और गंगाजल ही है।'

'यह कहकर वे चले गये। मैं मन्दिरसे बाहर आ चबूतरेपर बैठ गया। विचार निरन्तर एक-दूसरेसे टकरा रहे थे। सोचा कि अवश्य यह दवा करूँगा, अन्तिम बार इसे भी आजमा देखूँ।'

देखता क्या हूँ कि वे ही साधु-महात्मा फिर लौटे चले आ रहे हैं। तो ये क्या चाहते हैं? भिक्षा, रुपया, चन्दा? गोशालाके लिये दान? साधुओंसे मुझे कुछ अश्रद्धा इसलिये थी कि अनेक ठग भिन्न-भिन्न रूप बनाकर ठगते हैं।

'वे बोले, 'वकील-डॉक्टर जबतक फीस नहीं ले लेते, तबतक अपनी पूरी शक्तिसे कार्य नहीं करते। तुम्हें भी फीस देनी होगी।'

'मेरा संदेह पूरा हो गया। मैंने सोचा, 'रुपया ऐंठनेका नया ढंग इन महोदयने निकाला है। मैं साधारण स्थितिका बीमारीद्वारा चुसा हुआ

व्यक्ति भला इन्हें क्या फीस दे सकता हूँ।'

मैं बोला, 'महाराज! मैं गरीब व्यक्ति हूँ। भला, क्या फीस दे सकता हूँ।'

'वे बोले, 'फीस नहीं दोगे तो भगवान्‌का इलाज भी पूरा नहीं होगा।'

भगवान्‌की फीस क्या हो सकती है?' मैं सोचता रहा।

मैंने कहा—'अच्छा बताइये क्या प्रस्तुत करूँ!'

वे बोले, 'भगवान् रुपया-पैसा नहीं चाहते। तुम्हें रुपया नहीं देना है। केवल अपने जीवनको भगवान्‌मय बना देना है। उसका साधन है 'रामायण' का नित्य-नियमित श्रद्धापूर्ण पाठ। यदि उपर्युक्त इलाजके साथ-साथ तुम नियमित श्रद्धापूर्वक रामायणका पाठ भी करते रहो तो प्रभाव जल्दी होगा, स्थायी होगा और पूर्ण आरोग्य प्राप्त होगा। भगवान् सुन्दर हैं। भगवान् स्वास्थ्य हैं। भगवान् जीवन हैं, प्रेम हैं, सत्य हैं! 'रामायण' के निरन्तर पाठसे उपर्युक्त औषधका दैवी प्रभाव अपनी पूरी शक्तिसे कार्य करेगा। तुम्हारी चित्त-वृत्तियाँ आरोग्य, स्वास्थ्य और सद्भावनामें केन्द्रित रहेंगी।'

'वे पूछने लगे, 'अच्छा' बोलो तुम कितने पाठ करना चाहते हो?'

'मैंने यह समझकर कि सावनमें मरना तो है ही, आवेशमें आकर कह दिया कि 'महाराज! मैं ५१ रामायणके पाठ करूँगा।'

'वे मेरे इस वचनको पक्का करनेके लिये बोले, अच्छा तो यह लो अंजलिमें जल संकल्प कर डालो। हाथमें जल ले उन्होंने विधिपूर्वक पाठ करनेका संकल्प दिया और चलते-चलते बोले, अब तुम शीघ्र स्वस्थ हो जाओगे। अब हम तुमसे तभी मिलेंगे, जब तुम्हारे पाठ पूर्ण हो जायँगे और तुम पूरे स्वस्थ हो जाओगे।'

'महाराज चले गये। कर्तव्यका पालन हमने दृढ़तासे पूर्ण श्रद्धापूर्वक करना प्रारम्भ कर दिया। गंगाजलका प्रबन्ध किया। सोंठ ही लेता रहा। पाठ नित्य-नियमित रूपसे चलता रहा। मेरे आश्चर्यकी सीमा न रही, जब मैंने उस चिकित्साका चमत्कार देखा। मुझे पहले जल पचना शुरू

हुआ। कुछ दिनके बाद टमाटरका रस पचने लगा, फिर अन्य फलोंके रस और सात पाठ समाप्त होते-होते तो टाँगोंकी अकड़ाहट दूर होने लगी। भोजन ग्रहण करनेकी इच्छा भी जाग उठी। थोड़ा-थोड़ा मैं बिना सहारे चलने लगा। जैसे-जैसे दशा सुधरती, मेरी श्रद्धा उत्तरोतर बढ़ती गयी। मैं पूरी निष्ठासे पाठ करता रहा। 'रामायण'का पाठ मेरे दैनिक जीवनका एक अंग बन गया। अब तो मेरी ऐसी आदत हो गयी है कि प्रतिदिन 'रामायण'का पाठ किये बिना कुछ ग्रहण नहीं करता। दस पाठ करते-करते मेरी अवस्था ठीक हो गयी। निर्बलता घटती रही, साथ ही दवाई भी चली और आज भी चल रही है और मैं अपने-आपको पूर्ण स्वस्थ पा रहा हूँ।

इस समय उपर्युक्त दैवी चिकित्साके बलसे मैं यह जीवनका प्रकाश देख रहा हूँ। जिन पाँवोंसे मैं कभी चलतक नहीं पाता था, आज उन्हींसे पैदल बदरी और केदारनाथकी यात्राएँ करके सानन्द लौट रहा हूँ। 'रामायण' को मैं मानव-मुक्ति, स्वास्थ्य-आनन्द और सुख-सन्तोष देनेवाला दैवी ग्रन्थ मानता हूँ। अपनी यात्राके सिलसिलेमें मैं उन महात्माको खोजता रहा हूँ। हर स्थानपर साधुओंको ध्यानसे देखता हूँ, पर मुझे उनके दर्शन नहीं मिले हैं। कुरुक्षेत्रमें सूर्यग्रहणके अवसरपर भी मैं उनकी खोजमें गया और स्थान-स्थानपर उन्हें ढूँढ़ा, किन्तु सब निष्फल रहा। यदि उपर्युक्त महात्माजी मेरे इस अनुभवको पढ़ें तो अवश्य पत्र लिखें अथवा दर्शन देनेकी कृपा करें तो मैं बड़ा अनुगृहीत होऊँगा।

यह अनुभव कलिकालकी भौतिक चिकित्सा-पद्धतिको एक चुनौती है। दैवी श्रद्धा वह अनमोल औषध है, जिसे मनमें धारण करनेसे दैवी शक्ति प्रकट होती है।

भूलको स्वीकार करनेसे पाप-नाश

मोहादधर्मं यः कृत्वा पुनः समनुतप्यते।
मनःसमाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम्॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हते।
तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते॥
यदि विप्राः कथयते विप्राणां धर्मवादिनाम्।
ततोऽधर्मकृतात् क्षिप्रमपराधात् प्रमुच्यते॥
यथा यथा नरः सम्यगधर्ममनुभाषते।
समाहितेन मनसा विमुञ्चति तथा तथा॥

(ब्रह्म० २१८। ४—७)

'ब्राह्मणो! जो मोहवश अधर्मका आचरण कर लेनेपर उसके लिये पुनः सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करता है और मनको एकाग्र रखता है, वह पापका सेवन नहीं करता। ज्यों-ज्यों मनुष्यका मन पापकर्मकी निन्दा करता है; त्यों-त्यों उसका शरीर उस अधर्मसे दूर होता जाता है। यदि धर्मवादी ब्राह्मणके सामने अपना पाप कह दिया जाय तो वह उस पापजनित अपराधसे शीघ्र मुक्त हो जाता है। मनुष्य जैसे-जैसे अपने अधर्मकी बात बार-बार करता है, वैसे-वैसे वह एकाग्रचित्त होकर अधर्मको छोड़ता जाता है।'

अच्छे-बुरे, सच्चे और गलत कार्योंसे मनुष्यको संसारविषयक ज्ञान प्राप्त होता है। हम पग-पगपर गलती करते हैं और प्रकृति हमें प्रत्येक गलतीके लिये सजा देती है। प्रकृतिके दरबारमें कोई माफी नहीं। भूल की और तुरंत उसकी सजा मिली—यही विधान है। समाज तथा परिवारके क्षेत्रोंमें भी हमारी अल्पज्ञताके कारण भूलें, गलतियाँ, अशिष्टताएँ और अनैतिकताके कार्य हो जाना सहज स्वाभाविक बात है। अल्पज्ञ मनुष्यका जीवन ही भूलोंसे भरा है। कदाचित् ही ऐसा कोई मानव-प्राणी हो, जिसका जीवन भूलोंसे मुक्त रह सके। जाने-

अनजानेमें, प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्षरूपसे गलती हो ही जाती है। कभी-कभी तो ऐसी भयानक गलतियाँ हो जाती हैं कि उनके लिये हमें जीवनपर्यन्त पछताना पड़ता है।

भूल छोटोंसे, अपढ़ और अशिक्षितोंसे ही हो सकती हो, सो बात नहीं है। समाजमें ऊँची पद-प्रतिष्ठा पाये हुए साधु, उपदेशक, पण्डित, नेता, विद्वान् आदिसे लेकर साधारण परिवारवाले गृहस्थ, मुंशी, क्लर्क, नौकर, व्यापारी, अफसर—सभी भूलें कर बैठते हैं। भूल एक मानसिक गलतीका दुष्परिणाम है। जिस समय हम भूल करते हैं, उस समय हमारा मन एक गलत दिशामें सोचा-विचारा करता है। हम वैसी ही क्रिया कर बैठते हैं। अतः बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी भूल कर बैठता है। बड़ोंकी भूलकी हानि तथा बुरा प्रभाव दूर-दूरतक फैलता देखा गया है। राजा, शासक, नेता आदिकी भूलोंके दुष्परिणामस्वरूप कभी-कभी सारे देशको सजा भुगतनी पड़ती है; युद्ध ठन जाते हैं, प्रान्त कुचले जाते हैं, गोलियाँ चल जाती हैं और हिंसा-रक्तपाततकका अवसर आ जाता है। दूर-दूरतक यह दुष्परिणाम फैलता जाता है और बुरा वातावरण बना डालता है।

मनुष्यका यह स्वभाव है कि जब कोई भूल हो जाती है, तब वह उसे छिपाये रखना चाहता है। एक झूठा, कपट, रिश्वत या बेईमानीको छिपाये रखनेके लिये दो-चार और झूठ बोलता है। अपनी की हुई गलतियों या अन्यायको गुप्त रखनेके लिये बहुत व्यय करता है। पूँजीपति विलासी व्यक्ति अपने धनका दुरुपयोग कर वासनापूर्तिके साधन एकत्र करते हैं; फिर पापोंको गुप्त रखनेके लिये हजारों रुपये व्यय करते हैं। फिर भी देर-सबेर पाप प्रकट होकर ही रहता है। कहीं अग्नि भी घरमें छिपायी जा सकती है? रुई कबतक अंगारेको ढके रहेगी? अतः कभी-न-कभी कलई खुल ही जाती है और अप्रतिष्ठाका कारण बनती है। इससे उत्तम तो यही है कि हम स्वयं ही अपनी भूलोंको सबके सामने स्वीकारकर पश्चात्ताप कर लें। भविष्यमें न करनेका प्रण करें।

स्मरण रखिये, छिपानेसे आपकी छोटी-सी भूल भी बड़ी बनती जाती है; क्योंकि उसमें एकके बाद दो-चार और भी कपट मिलते और एकत्र होते रहते हैं। मामला और भी पेंचीदा होता जाता है। जैसे गन्दी वस्तुको छिपाकर रखनेसे दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है। फिर उसे स्वच्छ कर सूर्यकी रोशनी देनेसे दुर्गन्ध दूर होती है। नयी स्वच्छ हवा उस स्थानको स्वच्छ कर देती है, इसी प्रकार भूलरूपी गंदगीको प्रकट कर देनेसे आत्माका भार दूर हो जाता है, मानसिक उलझनें दूर हो जाती हैं।

प्रत्येक छिपाया हुआ पाप, भूल, कपट, मिथ्याचार, रिश्वत, झूठ, फरेब आपके मनके गुप्त प्रदेशमें छिपा रहकर जीवनको पेंचीदा और दम्भपूर्ण बनाता है। यह दुराव मनमें ग्रन्थियोंके रूपमें बराबर बना रहता है। स्वप्नोंमें प्रकट होता है। हमारे जीवनके विचित्र अनियन्त्रित व्यवहारोंका कारण बनता है। इससे अधिकांश शारीरिक रोग—नासूर, भगंदर, दमा, बवासीर, खाँसी, संग्रहणी—इत्यादि हो जाते हैं। चिरस्थायी रोग प्रायः गोपनीय मनोवृत्तिके कारण उत्पन्न होते हैं।

पापकर्म क्या-क्या हैं?

महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय १३ में उन पापमय वृत्तियोंका उल्लेख किया गया है, जिन्हें छोड़ देना चाहिये। हमारी भूलोंकी जड़में प्रायः ये ही दुष्ट आसुरी कुप्रवृत्तियाँ रहती हैं—

प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारा तथापि च।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत्॥

पापमूल हिंसा, चोरी, परस्त्रीगमन—ये तीन शरीरके पाप हैं। हमें नाना प्रलोभनों, भूलों, गलतियोंमें खींचनेवाले हैं। अतः इनको त्याग देना चाहिये।

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जलपेन्नानुचिन्तयेत्॥

व्यर्थका बकवाद, कटुभाषण, चुगलखोरी तथा झूठ बोलना—ये चार मनुष्यकी वाणीके पाप हैं। इनको त्याग देना चाहिये। इतना ही नहीं, मनसे इनका चिन्तन या कल्पनातक नहीं करनी चाहिये। इनसे भूल होनेकी सम्भावना बनी रहती है।

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम्।
कर्मणः फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत्॥

दूसरेका धन लेनेकी इच्छा न करना, प्राणिमात्रका शुभचिन्तक होना, कर्मोंका फल अवश्य ही मिलता है—ऐसी भावना रखना—ये मनके तीन पुण्य हैं। इनके विपरीत पराये धनको चाहना, दूसरेका बुरा चाहना, नास्तिक बुद्धि रखना त्यागनेयोग्य पाप हैं। जो उपर्युक्त पापोंको मन, वाणी, कर्म और बुद्धिसे नहीं करता, वही महात्मा है।

दूसरोंकी भूलें देखनेकी प्रवृत्ति

मनुष्यमें एक कमजोरी यह है कि वह अपनी भूलों और गलतियोंकी ओर तो ध्यान नहीं देता, दूसरोंका दोष-दर्शन करता है। दूसरोंके दोष निकालना एक ऐसी कमजोरी है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी कमजोरियोंपर पर्दा डाले रखना चाहता है। यदि हमसे कोई भूल हो भी जाती है तो भी हम उसका उत्तरदायित्व दूसरोंपर ही डाले रखना चाहते हैं। कभी अपनी भूलोंको ही उपयोगी या आवश्यक सिद्ध करनेका दुःसाहस करते हैं। ये सभी रूप घृणित हैं। विचारवान् वे हैं, जो दूसरोंकी भूलें न देखकर पहले स्वयं अपने दोष और दुर्गुणोंको निकालनेका प्रयत्न करते हैं।

थोड़े-से पाप, जरा-सा झूठ, तनिक-से मानसिक वासनामय चिन्तनतकको मनमें न आने दीजिये। एक-एक बूँदसे पापका घड़ा भर जाता है। थोड़ी-थोड़ी पापकी बात सोचनेसे ही मनुष्य कुछ समयमें पापके पंकमें डूब जाता है। सावधान!

पुरानी भूलोंको लेकर अधिक पछताना, दिनभर दुःखी रहना, अपनेको पतित समझना छोड़ दीजिये। आप तो भविष्यमें ईमानदारीका

जीवन व्यतीत करनेका संकल्प कीजिये। परिस्थितियोंके जालमें फँसकर यदि मनुष्य कोई अपराध कर बैठता है तो वह वास्तवमें पापी नहीं होता।

पुरानी भूलोंके प्रति सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप कीजिये। सबके सामने पूरे साहससे भूलको स्वीकार कर लीजिये। वे उदारतापूर्वक आपको क्षमा कर देंगे। भूल स्वीकार करनेसे आत्मसंतोष मिलेगा। भविष्यमें आप उस मार्गसे न जायँगे। आगे बढ़नेवाले कभी पीछे फिरकर नहीं देखा करते।

एक विद्वान्‌ने सत्य ही लिखा है, 'आप कठिनाइयोंसे बचना या छुटकारा प्राप्त करना चाहते हैं तो अपने भीतरी दोषोंको ढूँढ़ डालिये और उन्हें नष्टकर बाहर निकालनेमें जुट जाइये। दुर्गुणरूपी काँटोंको हटाकर उनके स्थानपर अपने हृदय-उद्यानमें सद्‌गुणोंके पुष्पमय पौधे लगाइये। जिस अनुपातमें आप यह कार्य कर सकेंगे, उसके अनुसार ही आप विपत्तिसे छूटकर स्थायी उन्नतिकी ओर अग्रसर होते जायँगे।

भगवान् करुणामय हैं। वे बड़े-से-बड़े पापीकी भूलोंतकको सहर्ष क्षमा कर देते हैं। यदि हम आर्तभावसे सच्चे हृदयसे उनसे अपने पापोंकी क्षमा माँगें तो वे उदारतापूर्वक क्षमा कर देते हैं। पापी, दुरात्मा, वेश्याएँ, चोर—सभी सच्चे हृदयसे क्षमा माँगनेपर सद्‌गृहस्थका पवित्र जीवन प्रारम्भ कर सकते हैं। निष्कलुष जीवन व्यतीत करनेमें ही आत्मसंतोष प्राप्त होता है।

और धर्म क्या मुझे इस अशान्तिसे किसी प्रकार मुक्त कर सकते हैं? दिनमें चलते-फिरते, उठते-बैठते तो मनका संतुलन ठीक रहता है, चित्तवृत्ति शान्त रहती है; परंतु संध्योपासनाके समय मनमें अवांछनीय विचारधाराका प्रबल आक्रमण क्योंकर होता है? इस विषयमें आपका सत्परामर्श अपेक्षित है। कुछ उपाय बतलाइयेगा?'

मनुष्यके मनमें दो भाग हैं—एक बहिर्मन, दूसरा गुप्त मन। जो बात हमारे गुप्त मनमें दृढ़तासे एक बार पैठ जाती है, वह उसे मजबूतीसे पकड़ लेती है। बहिर्मन हमारी चेतनावस्थामें हमारे शरीर और संकल्पको प्रभावित करता है। जब हम दिनमें चलते-फिरते रहते या काम करते रहते हैं, तब हमारा बहिर्मन हमारे इच्छानुसार कार्य करता रहता है; परंतु हमारी प्रसुप्त वासनाएँ चुपचाप गुप्त मनमें बैठी-बैठी शरीरपर अपना अधिकार जमानेकी बाट देखा करती हैं। जब निद्रावस्थामें बहिर्मनका प्रभाव शिथिल हो जाता है, तब अव्यक्त या गुप्त वासनाएँ चेतनाके स्तरपर आ जाती हैं और शरीरको अपनी ओर ले जाती हैं। सुप्त और अव्यक्त भावनाओंका विवेकके साथ द्वन्द्व होता रहता है। इससे मानसिक संतुलन ठीक नहीं रहता। चित्तवृत्ति अशान्त रहती है। व्यक्त और अव्यक्त वासनाओं और विवेकका द्वन्द्व ही मानसिक रोग है। जबतक गुप्त मनमें बैठी हुई अनैतिक वासनाएँ या प्रसुप्त—गुप्त इच्छाएँ तृप्त नहीं होतीं या उन्हें विवेक-बुद्धिके द्वारा उचित मार्ग-निर्देश नहीं होता, तबतक मानसिक संतुलन स्थिर नहीं रह सकता। व्यक्त और अव्यक्त मन तथा इच्छाओंके पूर्णमतैक्य-(Harmony) का नाम ही आनन्द या मोक्ष है। इस अवस्थामें आत्मा पूर्ण तृप्त रहती है। जिस अनुपातमें ये दोनों मन संतुलित रहते हैं, उसी अनुपातमें तृप्ति या आनन्द रहता है।

उपर्युक्त मानसिक रोगीके गुप्त मनमें किसी व्यक्तिविशेष, सम्भवतः किसी नारीके प्रति वासनामूलक आकर्षण था। समाजके नैतिक नियन्त्रण और लोकलाजके भयसे बहिर्मन उसे बुरा-बुरा कहता रहा,

पर गुप्त मनमें प्रेमभावना मजबूतीसे जड़ पकड़ गयी। यह अतृप्त या अपूर्ण वासना दबकर गुप्त मनमें एक वासनाग्रन्थि (Complex) बन गयी, दबकर कोई भी वासना अधिक दिनतक काबूमें नहीं रह सकती। वह परितृप्तिका मौका ढूँढ़ती रहती है। रात्रिमें जब बाह्य मन सो जाता है, तब अव्यक्त वासनाएँ चेतनाके स्तरपर आकर शरीरको उसी ओर खींचती हैं। उपर्युक्त रोगीका बाह्य मन सामाजिक और नैतिक पतनके विचारसे अव्यक्त वासनाको दबाता है, पर गुप्त मन अवसर पाकर शान्ति पानेके लिये अपयशका विचार न करके फिर अपने व्यक्ति-विशेषकी ओर दौड़ता है। जबतक गुप्त मनकी इन रुकी हुई अतृप्त वासनाओंका रूपान्तर नहीं हो जाता या उनकी गतिकी दिशा नहीं बदल दी जाती, तबतक मानसिक रोग बना ही रहेगा। यही अवस्था अनेक व्यक्तियों, बड़े-बड़े कवियों, लेखकों, सैनिकोंकी हुई है। वाल्मीकि, कालीदास, तुलसीदास आदिने अपनी वासनाओंको भक्ति, ज्ञान, काव्य, साहित्यके रूपमें बदल दिया अर्थात् नया रूपान्तर दे दिया। इस रूपान्तरसे वासनाओंको एक स्वस्थ दिशामें प्रवाहित होनेका मौका मिला। ये व्यक्ति स्वस्थ भी हो गये और संसारके ज्ञानभण्डारमें भी वृद्धि हुई। वासनाओंका रूपान्तर (Sex-transmutation) वह उपाय है, जिसके द्वारा अव्यक्त या प्रसुप्त वासनाओंका द्वन्द्व दूर कर उन्हें चरितार्थ होनेकी एक नयी स्वस्थ दिशा प्रदान की जा सकती है। तभी दबी हुई मानसिक रोग उत्पन्न करनेवाली वासनाको उपयोगी बनाया जा सकता है। स्वस्थ और आनन्दित रहनेके लिये यह आवश्यक है कि मन दुर्वासनाओंसे मुक्त रहे और विवेकरहित गंदी विचारधाराओंका उसमें प्रवेश ही न हो।

अत: इस लेखमें वर्णित रोगीको आरोग्य और आनन्दमय जीवन बनाने और मानसिक रोगसे बचनेके लिये निम्न सुझाव दिये गये—

१—स्थानपरिवर्तन

प्रत्येक विचार या वासनाका सम्बन्ध स्थानविशेषसे होता है। एक

विशेष स्थानमें रहनेसे हमारे मनमें एक विशेष प्रकारकी इच्छाएँ पैदा होती हैं। स्थानके इर्द-गिर्द एक प्रकारके विचारोंका गुप्त वातावरण छाया रहता है। मन्दिरमें जानेसे पवित्र विचारोंका प्रवाह स्वतः आने लगता है। इसके विपरीत दूषित स्थानोंमें एक बार गुजरनेमात्रसे मन गंदी वासनाओंसे भर जाता है। अतः उपर्युक्त रोगीको यह सलाह दी गयी कि वे उस व्यक्तिविशेषसे सम्बन्धित स्थानका परित्याग करके किसी रमणीय धार्मिक स्थान, तीर्थस्थान या प्रकृतिके रमणीय प्रांगणमें स्थित किसी सुरम्य वाटिकामें निवास करें। नये स्थानकी नयी परिस्थितियोंमें नये-नये स्वस्थ विचार उत्पन्न होंगे। गंदी वासनाएँ फीकी पड़ जायँगी। भोग-भावना कम होगी। यज्ञ तथा विद्वानोंके भाषणोंसे पवित्र की हुई भूमिमें उत्तम और पवित्र विचार ही उत्पन्न होते हैं। कुछ वर्ष दूसरे स्थानमें इस प्रकार निवास करनेसे मानसिक संस्थान नये रूपमें बनने लगता है। पुरानी वासनाएँ फीकी पड़कर उनके स्थानपर नयी भाव-भूमिका निर्माण होता है।

२—नये स्वस्थ विचारोंका विकास

जिस गंदे विचार या वासनाको दूर करना है, उसे दबानेके स्थानपर उसके विरोधी शुभ भाव या विचार विकसित करने चाहिये। क्रोधको दूर करनेके लिये प्रेम और शान्त भावोंका विकास करना चाहिये। इसी प्रकार अति उत्तेजक वासनासे सताये हुए व्यक्तिको वैराग्य और ईश्वरके प्रति भक्ति-भावनाके पवित्र भावोंकी वृद्धि करनी चाहिये। शोक-विषादको मिटानेके लिये भगवान्‌के आनन्दमय रूपका ध्यान करके सर्वत्र आनन्दकी भावना करनी चाहिये। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, विवेकके शुभ विचारोंमें निरन्तर रमण करने, पुनः-पुनः उन्हें मनमें भरे रखने और वैसे ही विचारोंमें अधिक समय बितानेसे व्यक्तित्वके इस अंगका धीरे-धीरे विकास होने लगता है और वासनाओं या तुच्छ इच्छाओंका प्रभाव क्षीण हो जाता है। तुलसीदासजीने भक्तिका मार्ग ही पकड़ा था। अपने आराध्य रामकी भक्तिमें वे इतने तन्मय हो गये थे कि सारी आसुरी

वासनाएँ दग्ध हो गयीं। भक्तिका प्रकाश उनके मनमें फैल गया। उन्हें प्रतीत हुआ कि असली सुख, शान्ति और भक्तिका भण्डार तो राम हैं और वे राम आत्माके रूपमें मेरे भीतर ही विराजमान हैं। प्रेम, भक्ति, दया और करुणाके प्रतीक राममें वे ओत-प्रोत हो गये। वासनाका कल्मष बह गया। स्वच्छ, निर्लेप आत्मा अपने सत्-चित्-आनन्दरूपमें निखर आयी। विषय-सुखकी निस्सारता प्रकट हो गयी।

३—स्वस्थ मानसिक जीवन-निर्माणके संकेत या सजेशन—

नये संस्कारोंका निर्माण संकेत-पद्धति-(System of Auto-Suggestion) से होता है। रोगीको नये स्वस्थ संकेत अपने गुप्त मनको बार-बार देने पड़ते हैं। रोगी पूर्ण निष्ठा और विश्वासपूर्वक शान्तचित्तसे कुछ स्वस्थ विचारोंको मुँहसे उच्चारण करता है, बार-बार उनके निगूढ़ अर्थोंपर विचार करता है और उनमें इतना तन्मय हो जाता है कि अन्तमें वे उसके गुप्त मनका भाग बनने लगते हैं। उपर्युक्त रोगीको प्रतिदिन सायं और शयनसे पूर्व ये संकेत अपने गुप्त मनको देनेका आदेश दिया गया—

'मुझे अनुभव हो गया है कि जहाँ वासनाकी कालिमा है, वहाँ शान्ति नहीं है। जहाँ विवेकका राज्य है, वहाँ वासना कैसे ठहर सकती है? इसलिये मैं वासनासे चिपटा नहीं रहता। मेरे मनमें अब शान्ति और संतुलन आ रहा है। जहाँ शान्ति और संतुलन है, उस जगह वासना कदापि नहीं ठहर सकती। जब ज्ञानका प्रकाश हो रहा है, तब वासनाका अन्धकार कैसे ठहर सकेगा?

'वासनासम्बन्धी कलुषित विचारोंका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो विवेकशील, शान्त, स्थिरचित्त आत्मा हूँ। अपवित्र और कुत्सित वासनाके विचार मुझे अपने मायाजालमें नहीं फँसा सकते।

'मेरा हृदय वासनारहित है। मैं निर्विकार हूँ। हाड़-मांस, मल-मूत्रके शरीरमें मुझे अब आकर्षण नहीं दीखता। मैं तो इन विकारोंपर दृढ़ नियन्त्रण रखता हूँ। दुष्ट विचार मुझे मेरे उच्च सात्त्विक मार्गसे

विचलित नहीं कर सकते।

'मुझे विवेक हो गया है कि वासनाओंके बढ़ाने और तृप्त करनेमें परम सुखकी प्राप्ति नहीं होती। मैं तुच्छ विकारोंका दास नहीं हूँ। क्षणभंगुर पदार्थोंके पीछे अब मैं नहीं छटपटाता फिरता हूँ। सांसारिक भोग-विलासकी वासनाके स्थानपर मुझे आध्यात्मिक सम्पत्तिमें अधिक सुखका अनुभव होता है।'

प्रतिदिन प्रातः अथवा सायंकाल एकान्त स्थानमें शान्तचित्त हो नेत्र मूँदकर बैठ जाइये और शरीर तथा मनको शिथिल कर सब विचारोंको हटाकर उपर्युक्त भावनामें दस मिनिट चित्तको एकाग्र कीजिये। इस प्रकारका अभ्यास करनेसे मन स्वस्थ दिशामें लगता है और क्षुद्र वासनासे मुक्ति मिल जाती है।

४—गीताजीके वचनामृतका पान

श्रीगीताजीकी शरणमें जाने और निरन्तर मनोयोगपूर्वक श्रीमद्भगवद्गीताका स्वाध्याय करनेसे प्रबल मानसिक रोग शान्त हो जाते हैं और मनमें शान्तिका प्रादुर्भाव होता है। गीता नैतिक पतनसे रक्षा करनेवाली माता है। श्रीगीताके निम्न श्लोकोंको बार-बार पढ़ना और उनके अर्थपर विचार करना चाहिये। ये श्लोक रामबाणके समान प्रत्यक्ष चमत्कार दिखानेवाले हैं। इन्हें पुनः-पुनः रटना चाहिये, यहाँतक कि ये मानसिक संस्थानका एक अंग बन जायँ—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

(२। ६२)

अर्थात् विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(२। ६३)

क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है और अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है। फिर बुद्धि—ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है। बुद्धिनाश होनेसे वह पुरुष अपने श्रेय:साधनसे गिर जाता है।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(६। २४—२६)

अर्थात् मनुष्यको चाहिये कि संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको नि:शेषरूपसे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे अच्छी तरह वशमें करके क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ वैराग्यको प्राप्त हो। धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थिर करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे। परंतु जिसका मन वशमें न हुआ हो, उसे चाहिये कि वह स्थिर न रहनेवाला चंचल मन जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है, उस-उससे मनको रोककर बारंबार परमात्मामें ही निरुद्ध करे।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(९। ३०)

तथा—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(१८। ३८)

इन श्लोकोंके अर्थका स्वाध्याय, मनन, चिन्तन करने और श्रद्धा-

भक्तिसहित अभ्यास करनेसे विषय-वासनाओंसे मुक्ति मिल जाती है। इनके अक्षर-अक्षरमें परम रहस्य भरा हुआ अनुभवनिहित है। इनके अतिरिक्त गायत्री-जपसे भी अन्तःकरण निर्भय, निर्मल और वासनारहित बनता है। उच्च चिन्तन तथा ईश्वरीय शक्तियोंके ध्यानके बलसे ही प्रत्येक ऋषि-मुनिने अध्यात्म-जगत्‌में उन्नति की है। संसार वैसा ही बन जाता है, जैसा आप दृढ़तासे चिन्तन करते हैं—

The world is what you make it,
The sky is green or blue
Just as your soul may paint it;
It's not the world, it's you.

'आकाश आपको अपने मनकी स्थितिके अनुरूप ही हरा या नीला दिखायी देता है। वास्तवमें परिवर्तन संसारमें नहीं, हमारे मानसिक दृष्टिकोणमें होते रहते हैं। हमारा संसार वैसा ही बन जाता है, जैसा वस्तुतः हम चाहते हैं।'

सुख किसमें है?

आजकल हमें सुख नहीं, आराम नहीं, चैन नहीं—क्यों? हमारी बेचैनी, परेशानी और घबराहट दिन-पर-दिन बढ़तीपर है। और तरह-तरहकी चिन्ताओंने हमें ग्रस रखा है—क्यों? रात-दिन हम सुख-शान्तिकी खोजमें देश-विदेश मारे-मारे फिरते हैं, अन्धकारमय जंगलोंकी खाक छानते हैं, पर्वत और पहाड़ियोंसे टक्कर लेते हैं, खून-पसीना एक करते हैं; पर हमारा हृदय फिर भी अधिकाधिक क्षुब्ध होता चला जाता है। हम उचितानुचित रूपसे, जायज और नाजायज तरीकोंसे रुपये पैदा करते हैं, खुलेदिल खर्च भी करते हैं, आलीशान राजमहल-जैसे सुन्दर गृहोंमें भी निवास करते हैं, पर आत्माको शान्ति नहीं मिलती। हम अपने शरीरकी खूब देख-रेख रखते हैं, इत्र, फुलेलसे उसे खूब सुवासित करते हैं, सुस्वादु मिष्टान्नका भोग लगाते हैं और बड़ी प्रतिष्ठासे समाजमें रहते हैं; पर हमें सुख नसीब नहीं होता, शान्ति नसीब नहीं होती; जिस ओर दृष्टिपात करते हैं, अन्धकार ही नजर आता है। हम दूसरोंसे अपना दुखड़ा कहते हैं; किंतु वे स्वयं दुःख-दर्दसे पीड़ित हैं। फिर नक्कारखानेमें हमारी तूतीकी आवाज कौन सुने? सबको अपनी-अपनी पड़ी है। अपने दुःखके सामने दूसरोंका कुछ मूल्य नहीं जँचता।

ऐसा क्यों हो रहा है? हमारे क्षोभका मूल कारण क्या है? हम दुःखी क्यों हैं?

हमारी क्षुब्ध मानसिक स्थितिका प्रधान कारण जीवनके पास ध्येयकी शून्यता है। हमारे लक्ष्यकी अस्थिरता है, कभी इधर, कभी उधर ले जानेवाली चंचलता है। हम कौन हैं? कहाँसे, क्यों आये हैं? कब, कैसे, कहाँ विलीन हो जायँगे? हमारा आत्मीय कर्तव्य क्या है? दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर क्या करना श्रेयस्कर है?—इत्यादि प्रश्नोंपर न कभी हम सोचते हैं, न गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं। इन आध्यात्मिक प्रश्नोंपर हम मानसिक शक्तियोंको एकाग्र नहीं करते, न दूसरोंसे ही इनका उत्तर

मालूम करनेकी चेष्टा करते हैं। दुनियाके सभी समाप्त न होनेवाले झगड़ोंमें फँसकर चिन्ता, भय, शोक, खेद, अफसोस, परेशानीके थपेड़े खाया करते हैं।

हमें पहले अपना ध्येय निश्चित करना चाहिये। अपनी नौका किस दिशामें खेकर ले जानी है, किस लक्ष्यकी ओर मैं अग्रसर हो रहा हूँ? मेरे जीवनका परम ध्येय क्या है? जबतक यह स्थिर नहीं होता, तबतक आगेकी बात सोचना व्यर्थ है। अपने निरुद्देश्य जीवनमें हमें निश्चित उद्देश्य बनाना चाहिये।

जगत्‌में कितने ही ऐसे व्यक्ति हैं जो अल्पसुखविशेषको ही पूर्ण सुख मानकर उसमें निमग्न हो जाते हैं। थोड़े दिनोंके लिये उसीमें आत्म-विस्मृति कर बैठते हैं। मकान, ठाट-बाटके सामान, जेवर, कपड़े, घोड़ा-गाड़ी, मोटर, स्त्री-बच्चे, भाई-बहिनमें ही रम जाते हैं। उन्हें इनसे दूर अन्य कुछ दृष्टिगत ही नहीं होता। किसी बड़ी ठेस या दुःखसे हमारे हृदय-चक्षु खुल जाते हैं और हमें ज्ञात होता है कि इस क्षुद्र सुखमें चिन्ताकी कड़वाहट अन्तर्निहित है। चिन्ता ही हमें भस्मीभूत कर रही है। हमें भोजनकी चिन्ता है, मुकदमेकी चिन्ता है, नौकरीकी चिन्ता है, लड़कीके विवाहकी चिन्ता है, व्यापार बढ़ानेकी चिन्ता है, दूसरोंको पीछे रखकर आगे निकल जानेकी चिन्ता है और न जाने किन-किनकी चिन्ता है। इन चिन्ताओंसे मुक्त होनेकी फिक्रमें हम आगे बढ़ते हैं। अपनी इन प्रलोभनोंसे भरी यात्रामें कभी पथभ्रष्ट, कभी हताश तो कभी पुनः लौट आनेकी कल्पना करते हैं।

इस संसारको अनित्य वस्तुओंके पीछे अधिष्ठानरूप जो एक सत्य छिपा है, जो सदा एकरस और अव्यय है, वही सुखका भण्डार है— उसी परमपदार्थकी ओर हमें चलना है। उसीसे एकत्व स्थापित करना है और अन्तमें उसीमें विलीन हो जाना है। यह परम सनातन पदार्थ हमारी आत्मामें इसी प्रकार निवास करता है, जैसे पुष्पमें गन्ध। अतः जो व्यक्ति सच्चे सुखकी साधना करता है, उसे आत्माका परिचय तथा उसका अभ्युदय करना चाहिये। आत्मोद्धारकी स्पृहाद्वारा ही हमें

परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

हम क्षुब्ध, चंचल, परेशान इसी कारण हैं; क्योंकि त्रिकालव्यापी परमात्माके स्वरूप अपने आत्माको भूल गये हैं। सच्चे सुख-शान्ति और परमानन्दके इस अक्षय भण्डारको छोड़ दिन-रात तेलीके बैलकी तरह वासनापूर्तिके निमित्त चक्कर लगा रहे हैं, झूठी मान-बड़ाईके झमेलोंमें लिप्त रहकर चिन्तित रहते हैं। हममेंसे धर्म उठ रहा है, धर्मके प्रति हमारा अविश्वास होता जाता है। हमारे पतनका एक कारण हमारी धर्मके प्रति अश्रद्धा है; क्योंकि बिना धर्म-कर्मके आत्मोद्धार असम्भव है।

उफ! हमारा कितना पतन हुआ है। आज हमारी पूजा, भक्ति, सामयिक व्रत, उपवास, दान, शील, तप किसीमें भी धर्मका लेशमात्र भी अवशेष नहीं रहा है। हमारी धार्मिक क्रियाएँ केवल नाममात्रको ही रह गयी हैं—उनमें प्राण नहीं, जीवन नहीं, यथार्थता नहीं, हमारा धर्म-कर्म नुमाइशकी चीज रह गया है। जैसे रूमाल और फाउन्टेन-पेनद्वारा आप अपने सूटको धारण कर शरीरकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार जनेऊ, रुद्राक्षकी माला या रामनामी अँगोछा लेकर हम थोथे लोकदिखावे या यश-कीर्तिके लिये धर्मकी क्रियाएँ करते हैं। उनके मूलमें प्रायः अज्ञान-भाव, लोकदिखावा, रूढ़ि-पालन और विज्ञापनका भाव छिपा रहता है। जो क्रियाएँ सम्यक् ज्ञान और भावसे शून्य तथा अपना आत्मीय अंग समझकर नहीं की जातीं, वे सब असत् हैं।

हमने अपनी आवश्यकताओंको बढ़ाया। वे क्रमशः बढ़तीपर हैं। बिना अपनी इन जरूरियातके हमसे रहा नहीं जाता। व्यर्थकी आवश्यकताओंकी वृद्धि ऐसी ही है, जैसे अपनेको जंजीरोंसे बाँधते जाना। हाथी-जैसा बृहत्-जीव भी जंजीर पड़ जानेसे पराधीन हो जाता है। हमने अपने आत्माके चारों ओर व्यर्थकी आवश्यकताओंकी ऐसी मोटी-मोटी दीवारें खड़ी कर ली हैं कि हमें क्षणभर भी चैन नहीं, शान्ति नहीं। आवश्यकताओंकी वृद्धि दुःखोंको निमन्त्रण देकर बुला लेना है। हम तीन सौ रुपये मासिक पाते हैं; एक दूसरा पचास रुपयेमें काम चलाता है। हमारे तीन सौमेंसे पचास कम हो जाते हैं तो महीना काटना कठिन हो जाता है। दूसरे

व्यक्तिकी आवश्यकताएँ इतनी परिमित हैं कि दस रुपये कम होनेपर भी उसका कार्य आनन्दपूर्वक हो जाता है। रुपयेके साथ अन्तःकरणकी शक्तिका ह्रास-सा होने लगता है। जिस व्यक्तिने अपनी आवश्यकताओंको परिमित रखा है, उसे ठाट-बाटकी व्यर्थ चीजोंमें शक्तिका ह्रास करनेकी जरूरत नहीं। व्यर्थकी आवश्यकताओंको गलेमें डालकर सुखकी आशा व्यर्थ है। जो जितनी आवश्यकताओंकी अभिवृद्धि करता है, वह उतना ही दुःखी रहता है। इनकी पूर्तिमें उसे नाना प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं, उनकी सामग्रीके जुटानेकी फिक्र अथवा एकत्र की हुई सामग्रीकी रक्षाकी चिन्ता, खो जानेका भय, जुदा हो जाने, गिर पड़ने, टूटने-फूटने, गलने-सड़ने-बिगड़ने, मैली-कुचैली होनेसे हमारे हृदयपर वज्रपात-सा होता है—बेचैनी, परेशानी, अफसोस, रंज होता है, हम खेद और शोकके अथाह समुद्रमें डूबे रहते हैं।

इष्ट सामग्रीके साथ अनिष्टका संयोग हो जानेपर चितकी व्याकुलता, घबराहट और उसके वियोगपर तड़पन, विषाद, रोना साथ ही नयी-नयी वस्तुएँ संग्रह करनेकी इच्छा, तृष्णा—ये सब हमारे दुःखोंको बढ़ाती हैं। इन व्यर्थकी जरूरतोंको बढ़ाकर हमने व्यर्थकी मुसीबत मोल ले ली है और आत्मोन्नति, अपने आदर्श, धर्म-कर्मकी सारी सुधि भुला दी है। हमारा स्वास्थ्य बिगड़ चुका है। खान-पानमें असंयम है। शंका, सन्देह और अविश्वास बढ़ चुके हैं। गुरुओंके समुदायमें दम्भी, दुराचारी, लोभी, परस्त्रीगामी गुरु मिल रहे हैं, कुतर्क, परदोष-दर्शन, साम्प्रदायिकता इत्यादि विघ्नोंके कारण हम निर्दिष्ट मार्गपर नहीं चल रहे हैं।

इन विघ्नोंपर विजय केवल साहस, दृढ़ता और निरन्तर साधनामें रत रहनेपर ही मिल सकती है। अभ्यास जब निरन्तर श्रद्धापूर्वक किया जाता है तो महान् शक्तिका संचार होता है। जबतक अभीष्टसिद्धि न हो तबतक साधकको साधन करते रहना चाहिये।

वास्तवमें सुख कहीं मोल नहीं बिकता। वह किसीकी खुशामद-सिफारिश या प्रेरणासे प्राप्त नहीं होता। वह तो हमारी आत्माका विशिष्ट गुण है। आत्मासे बाहर उसकी कहीं भी सत्ता नहीं है। जब हमारा अन्तः-

करण शुद्ध सात्त्विक बनता है, इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं, मन विषयोंसे हटकर आत्मामें एकाग्र हो जाता है, संसारके कार्योंसे विरक्ति-सी होने लगती है, हमारी समस्त क्रियाएँ केवल मुमुक्षाके हेतु होती हैं, तब हमें सच्चे सुखके भी दर्शन होने लगते हैं। तभी हम अपने आत्मामें छिपे सत्य सुखकी महान् निधिको पहचान पाते हैं। संसारी जीव आत्माको भूल रहे हैं और आत्मासे भिन्न किसी अन्य पदार्थमें सुखकी कल्पना किये बैठे हैं। उसकी प्राप्तिमें रात-दिन हैरान-परेशान मारे-मारे फिर रहे हैं। सांसारिक सुख भोगते-भोगते ही भाग्यवश सुख या मोक्ष प्राप्त हो जायगा—ऐसी धारणा रखनेवाले मूढ़ मन्दमति अन्ततक कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाते। बाह्य पदार्थोंमें सुखाभास है—केवल मृगतृष्णामात्र है।

सुखकी खोज आत्मामें होनी चाहिये। हमें यह मालूम करनेकी चेष्टा करनी चाहिये कि वह कैसे-कैसे कर्मपटलोंके नीचे दबा हुआ है, कैसे हमारी अज्ञानताकी मिट्टी उसके ऊपर छायी हुई है, कौन-कौन-से बुरे संस्कार हमें उस ईश्वरीय अंशसे ढके हुए हैं।

हमारे मानस-प्रदेशकी दो ही मुख्य भूमिकाएँ हैं—एक उच्च, दूसरी निम्न। वास्तविक सुखके लिये और क्षुद्रतम दुःखोंसे मुक्तिके लिये सदा-सर्वदा इस उच्च भूमिकामें रमण करते रहो, वहींपर तुम सर्वोत्तम विचारों और सामर्थ्यको पाओगे। आत्माके बिलकुल पास उससे सटी हुई ही मनकी सर्वोच्च भूमिका है, वहीं अप्रतिम वस्तुओंका अखण्ड सद्भाव रहता है। मनकी निम्न भूमिकामें कष्ट तथा नीच-से-नीच विचार होते हैं। ये नीच विचार उच्च विचारोंकी अपेक्षा अधिक आकर्षक होते हैं, किंतु उच्च विचारोंके शिखरस्थलमें निरन्तर विहार करनेवाले व्यक्तिको न तो ये किसी प्रकार शिथिल ही कर सकते हैं और न अपनी वर्तमान स्थितिसे असंतुष्ट ही। निरन्तर मनकी उच्च भूमिकामें विहार करनेसे हम आत्माका स्पर्श करनेयोग्य बनते हैं, तभी हममें सच्चा बल आता है।

सुख तथा दुःख हमारे मनकी दो विभिन्न अवस्थाएँ हैं। सुख-दुःखकी अनुभूति हमारे मनकी स्थिति, स्थिरता, शान्ति एवं संतुष्टिपर निर्भर है। सुख वह मानसिक दशा है, जिसमें हमारा मन शान्त और

स्थिर रहता है। हम संतोषका अनुभव करते हैं। चित्तका संतुलन ठीक रहता है। मनमें आह्लाद छाया रहता है मुद्रा प्रसन्न रहती है।

दुःख वह मनःस्थिति है जिसमें हमारा मन अशान्त, अस्थिर एवं असंतुष्ट रहता है। जितनी देर हम दुःखी रहते हैं, उतनी देर अतृप्त रहते हैं। मन चंचल है, तो असंतोषकी आँधी सर्वत्र उठा करती है, इच्छाओंकी प्रतिक्रिया सर्वत्र छायी रहती है, जब मन अशान्त है तब निश्चय ही हम दुःखका अनुभव करेंगे। जितने अंशोंमें मन अशान्त और चंचल है उतने ही अंशोंमें हम दुःखी तथा क्षुब्ध रहते हैं। इस प्रकार सुख-दुःख इस जगत्‌में या सांसारिक वस्तुओंमें नहीं प्रत्युत हमारे मनमें हैं। हमारा अन्तःकरण ही सुख-दुःखका आगार है।

हमारी वृत्ति कुछ ऐसी बन गयी है कि हम धन तथा संसारकी विभिन्न वस्तुओंमें मनकी शान्ति (अर्थात् सुख) ढूँढ़ा करते हैं। धन तथा सांसारिक वस्तुएँ वे चीजें हैं, जिनसे हमें अस्थायी शान्ति प्राप्त होती है। आप मासिक वेतन पाते हैं। यह वेतन क्या है? आप यह समझते हैं कि इस रुपयेसे एक मासतक आपको शान्ति प्राप्त होगी, आप संतुष्ट रहेंगे। मासिक आय सुखका साधन है अवश्य, किंतु वह केवल एक ही मासके लिये हुआ। यह इस सुखकी मर्यादा हुई। इसी प्रकार प्रत्येक सांसारिक सुखकी कुछ अवधि या मर्यादा है। उसके बाहर वह आपको सहायता नहीं कर सकता या सुख नहीं दे सकता।

सांसारिक सुखोंमें कोई हमें मनःशान्ति एक दिन देता है, तो दूसरा दो-चार दिन, मास, वर्ष इत्यादि। इसी अवधिके पश्चात् ये निकम्मे और सारहीन हैं। सब सांसारिक सुख इसी प्रकार हैं। किसीकी मर्यादा अधिक है, तो किसीकी कम। कोई वस्तु या धन मनको थोड़ी देरके लिये शान्त करते हैं, तो कोई वस्तु अधिक देरतक।

आज हमलोगोंका यह गलत विचार हो गया है कि धनमें सुख है; मकान, स्त्री-पुरुष-मिलन, भोजन, विलासमें सुख है। हम अंधाधुंध इन सांसारिक वस्तुओंकी ओर भाग रहे हैं। विज्ञान विलासकी सामग्रियाँ बढ़ा रहा है और हम उनमें सुखकी कल्पना कर रहे हैं; किंतु एकके

कामभावका कल्याणकारी प्रकाश

कामभाव मानवके लिये एक विषम पहेली बना हुआ है। अनेक बार इस दुर्निवार भावनाके अनेक आवेशमें मनुष्य ऐसे दुष्कृत्य कर बैठता है कि बादमें उसे पश्चात्ताप होता है। अनेक पुरानी कहानियोंद्वारा विदित होता है कि कामवासना भयंकर उत्पातका कारण बनी है। अत: इस भयंकर शत्रुसे सावधान रहनेकी परम आवश्यकता है।

वासनाका दमन अत्यन्त कठिन है। यह मानवकी एक सहज वृत्ति है। इससे सर्वथा मुक्ति पा लेना कठिन है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे वासनाको दबाना अस्वाभाविक एवं अकल्याणकारी है। जिन व्यक्तियोंमें कामवासना दलित होकर अन्तर्मनमें पैठ जाती है, वे अनजानमें ही अनेक विकारोंसे ग्रसित रहते हैं। नाना प्रकारकी गालियोंका प्रयोग, गुप्त अंगोंका स्पर्श एवं कुचेष्टाएँ, गंदे संकेत, गुप्त मनमें जटिलतासे प्रविष्ट दलित वासनाके वाह्य प्रदर्शन हैं। हँसी-मजाकमें निन्द्य शब्दोंके प्रयोगद्वारा मनकी संचित गंदगी निकला करती है। गंदगीका निकलना स्वास्थ्यके लिये हितकर है अन्यथा वह मानसिक विकृति, अपस्मार, हिस्टीरिया, स्नायुविकता आदि प्रमादजन्य रोगोंके रूपमें बाहर निकलती है। पागलपनका कारण प्राय: दलित कामवासना ही है।

कामवासनाका शमन सम्भव है

स्मरण रखिये, कामवासनाका दमन अत्यन्त कठिन है। इससे मुक्ति पानेका एक उपाय यह है कि इसका शमन (Sublimation) किया जाय। शमन करना हितकर है। दमनमें अमृत भी विष-तुल्य बन जाता है, किंतु दूसरी ओर शमनद्वारा विष भी अमृतमय फल प्रदान करना है। वासना एक प्रकारकी शक्ति है। उसे गंदे अनुत्पादक मार्गोंसे हटाकर पवित्र, उपयोगी, सृजनात्मक कार्योंमें लगाना श्रेयस्कर है। सर्वोत्तम मार्ग है भक्ति, भगवत्पूजा, आराधना इत्यादि। अनेक संत, ज्ञानी महात्माओंने अपनी वासनाओंका शमन इसी पवित्र मार्गके द्वारा किया है। गोस्वामी तुलसीदास, भक्तप्रवर सूरदास, कविवर रसखान इत्यादि विद्वानोंको अन्तमें भक्ति, पूजा एवं

आराधनाके पवित्र मार्गसे ही शान्ति एवं नवप्रेरणा प्राप्त हुई। परमात्माके नाम-स्मरण, पूजन, कीर्तन, सद्ग्रन्थावलोकनमें मनुष्यकी शक्तियाँ केन्द्रित होनेसे समस्त पाप भस्म हो जाते हैं। दृढ़ आत्माओं, विचारशील पुरुषोंके लिये भक्ति—आराधनाका मार्ग सर्वोत्तम है। अपना जीवन ईश्वरमय कर देनेसे समस्त विकार सहज ही दग्ध हो जाते हैं।

साधारण व्यक्तियोंके लिये गृहस्थ-जीवन ही शास्त्र-सम्मत मार्ग है। समाजने स्वयं विवाहद्वारा दो मानव-प्राणियोंको बाँधकर धर्मकी मुहर लगाकर कामभावके स्वस्थ विकासकी व्यवस्था कर दी है। विवाहमें भी विवेक एवं संयमकी अतीव आवश्यकता है। विवाहका यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य अनियोजित रूपसे वासना-तुष्टिमें निमग्न हो जाय। विवाहके साथ परिवारका उत्तरदायित्व संलग्न है। जब मनुष्यको विवेक होता है और उसे क्षय होती हुई शक्तियोंका ज्ञान होता है, तब वह धीरे-धीरे स्वयं संयम तथा आत्म-नियन्त्रणके मार्गपर आरूढ़ होने लगता है। विवाहित व्यक्ति ब्रह्मचर्यका पालन अविवाहितकी अपेक्षा अधिक सुविधापूर्वक कर सकता है।

कामभावनाके स्वस्थ विकासके लिये कुछ सार्वजनिक कलात्मक उपाय भी हैं। कलात्मक रूपोंमें प्रकाशित होनेसे वासनाका कलुषित विकार दूर हो जाता है। इन मार्गोंके द्वारा आत्म-संयम और शक्तिसंग्रह तो होता ही है, प्रसिद्धि और समृद्धि भी प्राप्त होती है। इस वर्गमें संगीत, चित्रकारी, कशीदा, बुनाई, साहित्य-निर्माण, बागवानी, साहसिक यात्राएँ, प्राकृतिक सौन्दर्य-निरीक्षण, सार्वजनिक सेवा-कार्य, अध्यापन इत्यादि अनेक कार्य ऐसे अपनी प्रकृतिके अनुसार आप चुन सकते हैं। इनमें तन्मयतापूर्वक लगनेसे मनुष्यको अपनी वासनाओंको निकालनेका अवसर प्राप्त हो जाता है। वासनाकी शक्तिको संगीत-साहित्यके मार्गमें मोड़कर मनुष्य सफल एवं उच्चकोटिका कलाकार बन सकता है। समाजसेवा, जाति-उत्थान तथा पददलित मानवताकी सेवाका विस्तृत क्षेत्रमार्ग हमारे लिये खुला पड़ा है। इनमें निरन्तर मन लगानेसे वासनाका उन्नयन होता है।

पश्चात् दूसरी-तीसरी वस्तुकी नयी आवश्यकता हमारे समक्ष उपस्थित हो जाती है। हम एक वस्तुका संग्रह करते हैं तो दूसरी चार वस्तुओंकी नयी-नयी आवश्यकताएँ और हमारे मन:पटलपर अंकित हो जाती हैं। आवश्यकताएँ निरन्तर बढ़कर हमें शान्ति, स्थिरता और संतुष्टि देनेके स्थानपर विक्षुब्ध करती रहती हैं।

हमारी बढ़ी हुई इच्छाएँ और वासनाएँ ही हमारी वर्तमान अशान्तिका कारण हैं। इच्छाएँ और आवश्यकताएँ जितनी अल्प संख्यामें होंगी, उतनी ही अधिक सरलतापूर्वक शान्ति प्राप्त हो जायगी। सांसारिक पदार्थोंकी सबसे बड़ी खराबी यह है कि ये तृष्णाकी वृद्धि करनेवाले हैं। तृष्णाके साथ अतृप्तिकी वृद्धि होती है। वस्तुओंके संग्रहकी भावना उत्तरोत्तर मनमें विष उत्पन्न करती है और हमें विक्षुब्ध रखती है।

तृष्णा, संग्रह, विलास, सांसारिक मोह, लालच हमें संसारमें बाँधते हैं। हम अपने परिवारके मोहमें पड़कर कुछ भी आत्मिक उन्नति नहीं कर पाते। जितनी अधिक आवश्यकताएँ, इच्छाएँ या वासनाएँ, उतने ही अधिक दुःख, अशान्ति और अतृप्ति। वासना बिलकुल न हो तो हमें अक्षय सुख प्राप्त हो सकता है।

सुख संग्रहमें नहीं, त्यागमें है—जिम्मेदारियों और सांसारिकताको कम करनेमें है। सांसारिकतासे जितने ही आप दूर हटते हैं, उतने ही आप संतुष्ट और स्थिर बनते हैं। जितना ही हम अपने ऊपर परिवारवृद्धिद्वारा जिम्मेदारियाँ, झंझट और विलासको लेते हैं, उतना ही दुःख तथा अशान्ति बढ़ती है। त्याग हमारी जिम्मेदारियोंको कम करता है, सांसारिकतासे मुक्त करता है, उससे हमारे बन्धन छूटते हैं। त्याग सुखका साधन है। जो त्याग कर सकता है, वही सुखी, संतुष्ट, तृप्त और शान्त रह सकता है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'**

एक मानसिक व्यथा—निराकरणके उपाय

एक सज्जन लिखते हैं, 'मेरा एक अभिन्नहृदय सखा बहुत दिनोंसे उद्विग्न-सा रहता था।' एक दिन मैंने उससे एकान्तमें पूछा, 'मित्रवर! मैं तुम्हें चिरकालसे उदास-मुख तथा कुछ चिन्तित-सा देख रहा हूँ। यदि कोई मानसिक व्यथा हो और उसे बतानेमें कोई आपत्ति न हो तो उसका रहस्य बताकर मेरा कौतूहल अवश्य दूर कर दो।'

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे।
स्वामिनि शक्तिसमेते निवेद्य दुःखं सुखी भवति॥

उसने अपनी व्यथा-गाथा सुनाते हुए कहा—'गत दो वर्षोंसे मेरा एक जीव-विशेष (सम्भवतः किसी नारी) से प्रेम था; वह प्रेम मोहमें, मोह आसक्तिमें परिणत हो गया। फलतः उसके देखे बिना चित्तमें चैन नहीं आता था। कभी-कभी उसके न मिलनेपर मैं मन-ही-मन रो बैठता था और मानसिक अशान्ति इतनी बढ़ जाती थी कि मैं आत्महत्यातकके लिये उद्यत हो जाता था। अन्ततोगत्वा चारों ओरसे निराश हो गया......अब मेरा उस दुःखद व्यक्तिके साथ वार्तालाप और लगाव छूट गया है। मैं नहीं चाहता कि उससे मिलूँ, सम्पर्क बढ़ाऊँ और नैतिक मर्यादाएँ तोड़कर यों अशान्त रहूँ। अपनी ओरसे मैं यह प्रयत्न करता रहता हूँ कि उसके अशुभ दर्शन न हों, जिससे मेरा मन फिर उधर दौड़े। पर मैं एक विचित्र मानसिक स्थितिमें हूँ। गत दो वर्षोंसे उस स्मृतिने मुझे महान् मानसिक रोगसे पीड़ित कर रखा है। मैं स्वयं इस अज्ञानजन्य क्लेशके कारण ऐसा घृणित जीवन बिताता रहा हूँ। बहुत प्रयत्न करता हूँ कि किसी प्रकार वह गुप्त बन्धन छूट जाय; फिर भी साधारणतया उस दुःखप्रद व्यक्तिका स्मरण हो आता है तो मेरा ध्यान बरबस उस ओर चला जाता है। ऐसा क्यों हो रहा है? मैं कैसे इस मानसिक व्यथासे मुक्त हो सकता हूँ? आपका मनोविज्ञान

समस्त उलझनोंका एक हल

आज मनुष्योंके व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवनमें अनेक प्रकारकी समस्याएँ उपस्थित हैं, अनेक गुत्थियाँ उलझी हुई हैं, हर एक उलझन ऐसी विषम है कि उसकी परेशानीसे प्रत्येक मनुष्य चिन्ताग्रस्त एवं दु:खी हो रहा है। इन कठिनाइयोंको हल करनेके लिये नाना प्रकारके उपाय काममें लाये जा रहे हैं; पर सफलताकी कोई आशा-किरण भी दिखायी नहीं पड़ती।

समस्त कठिनाइयों, व्यथाओं और वेदनाओंका एक ही कारण है और उनके निवारणका उपाय भी एक ही है। काँटा चुभना दर्दका कारण है तो उसे निकाल देना ही दर्दसे छुटकारा पानेका उपाय है। मनोवृत्तियोंका संकुचित, स्वार्थग्रस्त हो जाना ही उलझनोंका कारण है। संसारमें तबतक शान्ति स्थापित नहीं हो सकती, जबतक कि मनुष्यका अन्त:करण परमार्थकी ओर न झुके, सात्त्विकता, धार्मिकता, उदारताको न अपनावे।

गायत्री सात्त्विकताकी प्रतीक है। गायत्री-भक्त होनेका अर्थ है—जीवनको सत्त्वगुणी, धार्मिक बनानेका लक्ष्य स्थिर करना। गायत्री-उपासनाका अर्थ है—उन आध्यात्मिक उपचारोंका अवलम्बन करना, जो अन्त:करणमें सत्त्वगुणी परमार्थभावनाका बीजारोपण करते हैं। गायत्रीका आश्रय लेनेका तात्पर्य बुद्धिको उस सात्त्विकताकी गोदमें डाल देना है, जो मनुष्यके समस्त विचारों, गुणों, स्वभावों और आचरणोंको दिव्य तत्त्वोंसे परिपूर्ण कर देती है। इस प्रक्रियाको अन्तस्तलमें गहराईतक प्रतिष्ठित करनेसे मनुष्य उस स्थितिमें पहुँच जाता है, जिसमें उसके सामने कोई उलझन शेष नहीं रहती। आइये, अब जीवनकी प्रमुख समस्याओंपर विचार करें और देखें कि गायत्रीरूपी सद्बुद्धिको अपना लेनेपर वे किस प्रकार सुलझ सकती हैं।

विश्वयुद्धकी घटाएँ आकाशमें घुमड़ रही हैं। कह नहीं सकते कि

किस क्षण विस्फोट हो जाय और परमाणुबम दुनियाको तहस-नहस कर दें। इन युद्धोंका कारण साम्राज्यवादी लालसाएँ ही हैं। एक देश दूसरे देशपर अपना प्रभुत्व जमाने, उसका शोषण करनेकी मनोवृत्तिको छोड़ दे और न्यायपर दृढ़ रहे तो इन युद्धोंका कोई कारण नहीं रह जाता।

यदि आज विश्व-राजनीतिमें गायत्रीप्रतिपादित 'न्याय' का समावेश हो जाय तो युद्धकी तैयारीपर जो शक्ति लगी हुई है, वह रचनात्मक कार्योंमें लगकर जीवनकी सुविधाओंको बढ़ाये और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगके आधारपर विश्व-बन्धुत्वके प्रेमभावका समुचित विकास हो सकता है। महायुद्धकी आशंकासे आज समस्त संसार संत्रस्त है। इस त्रासको कूटनीतिक माथापच्चीसे नहीं, गायत्रीकी निर्मल भावनाओंद्वारा सुलझाया जा सकता है।

विश्वयुद्धके बाद दूसरी समस्या खाद्य पदार्थोंकी कमीकी है। कुछ देशोंको छोड़कर प्राय: सर्वत्र अन्नकी कमी पड़ रही है। सिंचाई, रासायनिक खाद, वैज्ञानिक यन्त्रों आदिकी सुविधा बढ़ाकर अधिक अन्न उपजानेका प्रयत्न किया जा रहा है। इससे कुछ तात्कालिक सुधार भले ही हो जाय, पर स्थायी सुधार न होगा; क्योंकि जनसंख्या जिस तेजीसे बढ़ रही है, उसकी पूर्ति करनेलायक शक्ति पृथ्वीमें नहीं है। विशेषज्ञोंका कहना है कि कृषियोग्य सारी जमीनपर वैज्ञानिक कृषि कर लेनेसे भी सिर्फ इतनी उपज बढ़ सकती है, जो आगामी चालीस वर्षोंतक लोगोंका पेट भर सके। इसके बाद फिर भुखमरी फैलेगी।

इस प्रश्नका एकमात्र हल संतान-निग्रह है। सभी बुद्धिमान् एक स्वरसे यह स्वीकार करते हैं कि संतान पैदा करना रोका जाय। संतान-निग्रहका सर्वश्रेष्ठ उपाय है ब्रह्मचर्य। जो तभी सम्भव है जब गायत्री-भावनाके अनुरूप नारीके प्रति विकारदृष्टिको त्यागकर पूज्यभाव स्थापित किया जाय। इससे खाद्यसंकटकी समस्या हल होगी। जनसंख्याकी वृद्धि रुकेगी, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सुधरेगा।

गायत्रीकी साप्ताहिक उपवास-साधनाको यदि समर्थ लोग अपना लें तो आजकी आवश्यकता पूरी हो जाय और विदेशोंसे एक दाना भी अन्न न माँगना पड़े।

तीसरी व्यापक कठिनाई अनैतिकताकी है। ठगी, विश्वासघात, वचनभंग, स्वार्थ, द्वेष, अहंकार, पर-पीडन और कर्तव्यत्यागकी बुराइयाँ आदि बेतरह बढ़ रही हैं। सरकारी कर्मचारी, व्यापारी, धर्म-प्रचारक, नेता, मजदूर आदि सभी वर्गोंमें इस प्रकारकी दूषित मनोवृत्ति बढ़ रही है। अविश्वास, असंतोष और आशंकासे हर एकका मन भारी हो रहा है।

इस स्थितिको कानून, पुलिस, फौज या सरकार नहीं सुधार सकती। जब अन्तरात्मामें ईश्वरीय वाणी जाग्रत् होकर धर्मभावना, कर्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी, त्याग, प्रेम और सेवाकी भावना पैदा करेगी, तभी व्यापक अनैतिकताकी दुःखदायक स्थितिका अन्त होगा। यह परिवर्तन गायत्रीकी आत्म-विज्ञानसम्मत प्रक्रियाद्वारा सुगमतापूर्वक सम्भव हो सकता है।

पाप, अनाचार, कुकर्म एवं दुर्बुद्धिके कारण ही मनुष्य नाना प्रकारके दुःख भोगता है। जब जड़ कट जाती है, पापवृत्तिमें परिवर्तन हो जाता है तो नाना प्रकारके दैविक, दैहिक, भौतिक दुःखोंसे मानव-जातिको सहज ही छुटकारा मिल जाता है। कलह, संघर्ष, द्वेषके बीज स्वार्थपरतामें हैं। जहाँ पारमार्थिक दृष्टिकोण होगा, वहाँ प्रेम-गंगाकी शान्तिदायिनी निर्मल धारा प्रवाहित होगी।

भ्रान्ति, अविद्या, अन्धपरम्परा, अदूरदर्शिता, लोलुपता और संकुचित दृष्टिको 'कुबुद्धि' कहते हैं। सुशिक्षित और चतुर समझे जानेवाले भी लोग इस कुबुद्धिमें ग्रसित रहते हैं। फलस्वरूप उन्हें अकारण अनेक प्रकारके त्रास प्राप्त होते हैं। आजके युगमें संतान न होना एक ईश्वरीय वरदान है; पर लोग इसमें भी दुःख मानते हैं, कुरीतियोंका अन्धानुकरण करनेके लिये धन न मिलनेपर दुःख होता है। परिजनोंकी मृत्युपर ऐसा शोक करते हैं, मानो कोई अनहोनी घटना घटी हो। धनकी कामनामें

ही व्यस्त रहना, जीवनके अन्य अंगोंका विकास न करना तथा विलासिता, फिजूलखर्ची, व्यसन, फैशनपरस्ती आदिमें डूबे रहना लोग अपनी बुद्धिमानी समझते हैं।

गायत्रीरूपी सद्बुद्धि जिस मस्तिष्कमें प्रवेश करती है, वह अन्धानुकरण करना छोड़कर हर प्रश्नपर मौलिक विचार करता है। वह उन चिन्ता, शोक, दुःख आदिसे छुटकारा पा लेता है, जो कुबुद्धिकी भ्रान्त धारणाओंके कारण मिलते हैं। संसारमें आधेसे अधिक दुःख कुबुद्धिके कारण हैं, उन्हें गायत्रीकी सद्बुद्धि जब हटा देती है तब मनुष्य सरलता, शान्ति, संतोष और प्रसन्नतासे परिपूर्ण रहने लगता है।

बीमारी और कमजोरी आज घर-घरमें घुसी हुई है। इसका कारण आहार-विहारका असंयम है। पशु-पक्षी प्रकृतिको आदर्श मानकर चलते हैं और नीरोग रहते हैं। प्रकृतिके आदर्शोंका उल्लंघन करनेसे ही मनुष्य बीमार पड़ता है, कमजोर होता है और जल्दी मर जाता है।

गायत्री-मन्त्रकी शिक्षामें आहार-विहारका संयम और प्राकृतिक जीवनकी विशेष प्रेरणा है। सादगी और सात्त्विकताके ढाँचेमें ढली हुई जीवन-चर्या नीरोगताकी प्रामाणिक गारंटी है।

चिड़चिड़ापन, आलस्य, लापरवाही, अनुदारता, अहंकार, कटुभाषण, निराशा, चिन्ता, आवेश, द्वेष आदि मानसिक बीमारियोंसे आन्तरिक स्वास्थ्य खोखला हो जाता है और व्यावहारिक जीवनमें पग-पगपर ठोकरें लगती हैं। गायत्री-साधना मनुष्यके स्वभावमें सात्त्विक परिवर्तन करती है, सद्गुण बढ़ाती है। फलस्वरूप मानसिक अस्वस्थता नष्ट होकर मनोबल बढ़ता है और उसके द्वारा अनेकों लाभ प्राप्त होते रहते हैं। आन्तरिक निर्बलता एक ऐसी व्यक्तिगत कमी है, जिसके कारण मनुष्य इच्छा करते हुए भी कुछ कर नहीं पाता। मानव-तत्त्वका पूर्ण विकास कुछ ऐसे तथ्योंपर निर्भर है जो बहुधा अपने हाथमें नहीं होते। सूक्ष्म-शरीरमें उसकी जड़ें होनेके कारण ऐसा मानना पड़ता है कि अमुक विशेषताओंसे भाग्यने या भगवान्‌ने हमें वंचित कर रखा है।

गायत्री-साधनाका प्रवेश सूक्ष्म शरीरके उस भागतक हो जाता है, जहाँ भाग्यको फेरनेवाली कुंजी छिपी रहती है।

गायत्री-साधनाके फलस्वरूप सूक्ष्म शरीरके कुछ गुप्त कोषों, चक्रों, गुच्छकों, ग्रन्थियोंका विकास होता है, जिसके कारण दिव्य शक्तियोंका बढ़ना अपने-आप शुरू हो जाता है। बुद्धिकी तीव्रता, शरीरकी स्वस्थता, सत्पुरुषोंकी मित्रता, व्यावसायिक सफलता, कीर्ति, प्रतिष्ठा, पारिवारिक सुख-शान्ति, सुसंतति, व्याधियोंसे निवृत्ति, शत्रुताका निवारण आदि अनेकों लाभ अनायास ही मिलने लगते हैं। कारण यह है कि आत्मबल बढ़नेसे, दिव्य शक्तियाँ विकसित होनेसे, गुण-कर्म-स्वभावमें आशाजनक परिवर्तन हो जानेसे अनेक ज्ञात एवं अज्ञात बाधाएँ हट जाती हैं और ऐसे सूक्ष्म तत्त्व अपनेमें बढ़ जाते हैं जो दिनोंदिन उन्नतिकी ओर ले जाते हैं।

राज्य-शासनपर जनताकी कठिनाइयोंका जितना उत्तरदायित्व है, उससे कहीं अधिक जनताकी मनोवृत्तियोंपर है। जनता प्रतिमा है; राज्य उसकी छाया है। जनताकी प्रबल इच्छाके प्रतिकूल कोई राज्य जम नहीं सकता, इसलिये हमें जड़को सींचना चाहिये। जनसाधारणका चरित्र ऊँचा उठाकर, उनकी मनोदशामें श्रेष्ठ तत्त्वोंको बढ़ाकर, सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय, अन्तर्देशीय, देशीय, सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक एवं मानसिक समस्याओंको सुलझाया जा सकता है। केवल कानून या सरकारमें हेर-फेर कर देनेसे स्थितिमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो सकता।

मानव-जीवनकी जितनी भी गुत्थियाँ उलझी पड़ी हैं, उन सबको गायत्रीरूपी सद्बुद्धि, सात्त्विकता एवं सत्प्रवृतिको अपनानेसे सुलझाया जा सकता है।

असीम शक्तियोंकी प्रतीक हमारी ये देवमूर्तियाँ

हिंदू तीर्थ-स्थानोंमें आप अनेक देव-मन्दिर देखते हैं, जो एक-से-एक सुन्दर, मनोरम, दर्शनीय देवी-देवताओंकी मूर्तियोंसे परिपूर्ण हैं, शिल्पकलाके अद्वितीय नमूने इनमें संगृहीत हैं। हमारे मस्तक जब पूज्यभावसे मन्दिरोंमें विराजित भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, शिव, ब्रह्मा, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, गायत्री आदिकी मूर्तियोंके प्रति श्रद्धासे झुक जाते हैं, तब हम वास्तवमें उन जड़ प्रतिमाओंके प्रति नहीं, प्रत्युत उन प्रतिमाओंकी कलारूपमें अभिव्यक्त दैवी भावों, शक्तियों और सामर्थ्योंके प्रति अपनी श्रद्धाके पुष्प अर्पित करते हैं। जड़ प्रतिमाएँ मानव-भावका कलात्मक मूर्तरूप हैं। गुप्त तात्पर्य प्रत्येक जड़ प्रतिमामें अंकित दैवी भाव ही है। किसीमें शक्ति, साहस, पौरुषका मूर्तिमान् स्वरूप है तो किसी मूर्तिमें सत्य, सौन्दर्य तथा शिवत्वका। इन मूर्तियोंका गुप्त अर्थ संकेतात्मक है। प्रत्येक हिंदू देवी-देवताकी प्रतिमा नैतिक, आध्यात्मिक विशद दृष्टिसे निर्मित है। उसमें ऋषि-मुनियोंने गूढ़ विचारोंका समावेश किया है।

एक युग था, जब प्रत्येक हिंदू हमारी प्रत्येक प्रतिमाका आन्तरिक अर्थ और गुप्त संकेत समझकर उन आध्यात्मिक दैवी गुणोंको जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करता था। प्रतिमा-पूजन उसे सदा उन नैतिक, आध्यात्मिक सत्योंका स्मरण कराया करता था, जिनसे मनुष्यजीवन आदर्शरूप बनता है। उदाहरणके लिये हम तीन देवियोंमें अभिव्यक्त मूल भावोंको ले सकते हैं। हमारी अष्टभुजा दुर्गा सिंहपर विराजमान हैं। जो व्यक्ति अपने सामने दुर्गाकी मूर्ति रखता है, वह शुद्धरूपसे शारीरिक शक्ति और सामर्थ्यका पुजारी है। दुर्गाकी आठ भुजाएँ एक व्यक्तिमें चार व्यक्तियोंकी शक्ति, साहस, सामर्थ्य, बल प्रकट करती हैं,

वे सिंह-जैसे बल-पौरुष और साहसमय वाहनपर विराजमान हैं। सब पशुओंके राजापर जिस देवीका अधिकार है, उसका उपासक गुप्तरूपसे ये ही सद्‌गुण एकत्र करेगा। जब-जब वह दुर्गाका चित्र देखेगा, उसके मनमें इन्हींका मानस चित्र उपस्थित होकर उन्नत भावों और गुणोंको चरित्रमें स्थान देगा।

देवी सरस्वतीके चार हाथ हैं अर्थात् उनमें दो व्यक्तियोंका शारीरिक बल है, पर उनके हाथोंमें वीणा संगीतकलाकी अद्‌भुत शक्ति प्रकट करती है, पुस्तक समस्त ज्ञान-विज्ञान, नीति, धर्म, शास्त्रोंके ज्ञानका प्रतीक है। एक हाथमें माला ज्ञानका धर्मके साथ समन्वय करती है। जो व्यक्ति सरस्वतीका उपासक है, वह वास्तवमें ज्ञान, विज्ञान, कला—विशेषतः साहित्य, कविता, संगीत, वाद्य आदिका उपासक है। सरस्वती प्रकृतिके रमणीय प्रांगणमें विचरण करती हैं। मत्त मयूरों, लहलहाते सर, निर्झर हंस इत्यादि कलात्मक परिस्थितियोंसे उनका निकट सम्पर्क है। वस्तुतः जो व्यक्ति सरस्वतीको अपना आदर्श बनाता है, वह ज्ञान और कलासे अपना साहचर्य प्रकट करता है।

देवी लक्ष्मीके चार हाथ हैं। हाथोंमें कमलका पुष्प, अमित धन, आभूषण, मुद्राएँ, स्वर्ण आदि हैं। दोनों ओर दो हाथी चवँर कर रहे हैं। सुन्दर वस्त्रों तथा अलंकारोंसे वे विभूषित की गयी हैं। उनके चारों ओर ऐश्वर्यका विपुल विमुग्धकारी वातावरण मूर्तिमान् है। लक्ष्मीका गरिमामय चित्र हमारे मानस नेत्रोंके सम्मुख धन-सम्पदा-वैभवकी उपयोगिता तथा हमारी इन वस्तुओंके प्रति चपल लालसा अभिव्यक्त करता है।

भगवान् रामचन्द्रका चित्र मर्यादा, शील, व्यवहार, आचरण, शक्ति, धैर्य, एकपत्नी-व्रत, सात्त्विक प्रेम, कर्तव्य-पालन, शरणागतरक्षा और शान्तिका उज्ज्वल प्रतीक है। उनमें अनन्तशक्तिके साथ धीरता, गम्भीरता और कोमलताकी पूजा है। एक भार्याकी मर्यादाका समाजमें महत्त्व, माधुर्य और सुखके आदर्शकी पूजा है। भरतमें आदर्श

भ्रातृभक्ति, स्नेहार्द्रता, लोकभीरुता, आत्मग्लानि, त्याग, निर्मलता तथा दृढ़ताकी पूजा है। राजा दशरथमें सत्यवादिता, दृढ़प्रतिज्ञा, स्नेहकी पराकाष्ठा आदि गुण और स्त्रीके वशमें होनेका दुर्गुण मूर्तिमान् किया गया है। इन महापुरुषोंके चित्रों अथवा प्रतिमाओंमें हम दैवी भावोंका ही कलात्मक मूर्तरूप चित्रित देखते हैं।

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें हम शक्ति, शौर्य, नीतिकुशलता, सौन्दर्य, समाजसेवा, दुष्टदमनका आदर्श देखते हैं। बालक श्रीकृष्णने व्रजके ग्वालोंमें प्रेम, सेवा, संगठन, शक्ति और सदाचार, पराक्रमके दिव्य गुण उत्पन्न किये थे। देशकी आध्यात्मिक, शारीरिक और आत्मिक उन्नतिके लिये वे गोपाल बने; भारतमें राष्ट्रसंघकी स्थापना, नीतिसे शत्रुको परास्त करना, दीनता और मोहसे हानि, त्यागकी महत्ता प्रकट की। निष्काम कर्मयोगकी महत्ता, साहस और शक्ति, नीति, ज्ञान, मधुरता, सौन्दर्य, सरसता, वीरता, धर्म, राजनीति, ऐश्वर्य, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष आदि दिव्य गुणोंकी पूजा हम उनकी मूर्तिमें किया करते हैं।

भगवान् बुद्धने सत्य, धर्म, अहिंसा, धृति, वैराग्य और त्याग आदि गुणोंका स्वरूप प्रकट किया था। उनके चरित्रमें सत्य और दयाका बल है, संयम और वैराग्यकी चरम सीमा है।

भक्तप्रवर हनुमान् हमारे यहाँ शक्ति, सेवा, आत्मसमर्पण और निरलसताके सात्त्विक प्रतीक (Symbol) हैं। एक आदर्श सेवकमें जो गुण होने अनिवार्य हैं, वे सब उनमें एकत्र कर दिये गये हैं। बजरंगबली हनुमान् अमित शक्ति और साहसके प्रतीक हैं। गणेशजीमें शुभ शक्तिका वास है। प्रत्येक कार्यके आरम्भमें गणेशका आवाहन हमारी दिव्य शक्तियोंको उत्तेजना देता है।

उपर्युक्त देवी-देवताओंकी पूजाके दो पक्ष हैं—१. वस्तुपक्ष, २. भावपक्ष। नाना मूर्तियोंके प्रतीकोंको देखकर मनमें तदनुकूल विचारोंकी सृष्टि होती है। समस्त जड़-मूर्तियाँ भावोंसे आवृत हैं। उन्हें

सदा चर्मचक्षुओंके समक्ष रखनेसे तदनुकूल शुभ सात्त्विक सद्‌गुणोंका विकास होता है और मनुष्य अपना आदर्श भूल नहीं पाता। मूर्तियोंके निरन्तर दर्शन, आरती, कीर्तन, भजन, पूजन आदि धार्मिक कृत्योंका सबसे बड़ा लाभ यह है कि मनमें सद्‌गुणोंकी गंगाका प्रवाह अक्षुण्ण बना रहता है। मनको शुभ भावोंका सत्संग प्राप्त होता है। गंदे विचार नहीं आ पाते। हमारे यहाँ प्रतिदिन आरती-पूजन आदिका विधान इसीलिये रखा गया है कि हम प्रातः स्वयं अपने मनकी गंदगीको साफ कर उसमें शुभ सामर्थ्यकी प्रतिष्ठा कर लिया करें।

हमारा समस्त पूजन मानसिक है, अर्थात् इससे भावात्मक स्वच्छता, सात्त्विक गुणोंकी अभिवृद्धि, शुभ सत्संग, विरोधी दुष्ट विचारोंका दमन, ईर्ष्या, वासना, क्रोध आदिका परिष्कार होकर दैवी सत्तासे सांनिध्य प्राप्त होता है। हम लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते रहते हैं। दैवी गुणोंका अनन्त अविराम प्रवाह मानसिक कलुषको दूर करता रहता है। यदि किसी दिन राक्षसी वृत्तिके विकारसे वशीभूत हो हम आदर्शच्युत भी हो जाते हैं तो मानस-पूजन आत्मग्लानि उत्पन्न कर फिर दैवी प्रकाश प्रदान करता है। पूजा हमारे मानसिक संस्थानको स्वच्छ करनेका एक सात्त्विक चिरपरीक्षित साधन है।

मत समझिये कि ये मूर्ति-पूजा करनेवाली किन्हीं बाहरी प्रस्तर-मूर्तियोंको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। ये तो स्वयं अपने ही मनको शुभ सात्त्विक दैवी भावोंसे परिपूर्ण कर रहे हैं। मानसिक विकारोंको दूर कर अपने व्यक्तित्वके देवत्वका विकास कर रहे हैं। देवमूर्तियोंका बाह्य आधार लेकर ये एक प्रकारका मानसिक व्यायाम—(अपने दिव्य अंशपर एकाग्रता) मात्र कर रहे हैं। अपने आन्तरिक जगत्‌को दिव्य प्रकाशसे आलोकित कर रहे हैं। इनका पूजन मानस-पूजन है।

यह समझिये कि भजन-कीर्तनसे प्रस्तर-मूर्तियाँ प्रसन्न होती हैं या उन्हें सुनती हैं। परमात्माके गुण-गान कर, भजनोंका उच्चारण कर कीर्तन, वादन, जप, ध्यान, समाधिसे हम दैवी स्वरमें अपना स्वर मिला

देते हैं। ये क्रियाएँ हमारी आत्माकी दैवी आत्मासे एकता बनाये रखनेके साधन हैं। तुलसीकी 'विनयपत्रिका', 'मीराके भजन', 'सूरके पद' भक्त-हृदयोंकी आत्मशुद्धिके साधन हैं। भक्तोंकी इनसे आत्यन्तिक आत्मशुद्धि हुई। वे दैवी तत्त्वसे एकस्वर—एकरस हो सके।

मत समझिये कि जो भोग (मिष्ठान्न, फल, भोजन इत्यादि) देवमूर्तियोंको लगाया जाता है, उसे वे मूर्ति चखती हैं अथवा उनका स्वाद लेती हैं। पर उनके सम्मुख रखकर हम अपने भोजनमें सात्त्विकता, देवत्व, स्वच्छता, आरोग्य, शक्ति, समृद्धि आदि दैवी तत्त्वोंका समावेश कर लेते हैं। भोजन या भोगके साथ-साथ इन दैवी भावोंको भी खानेसे हमें आरोग्य और स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है। हमारे व्यक्तित्वका देवत्व ही कल्याणकारी है। हमारा पूजन उसीके विकासका एक सरल संकेतात्मक (Symbolical) साधन है।

हिंदू-देवताओंके विचित्र वाहन, वेश और चरित्र

हिंदूधर्म बड़े वैज्ञानिक सूक्ष्म आधारोंपर खड़ा किया गया है। इसमें जिन देवी-देवताओंकी मान्यता है, उनके जो वेश, वाहन और चरित्र हैं, वे सब मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंसे परिपूर्ण हैं। हिंदू तत्त्वदर्शी सदासे यह चाहते आये हैं कि धर्म-तत्त्वोंका ज्ञान जनसाधारणतक पहुँचे, मामूली बुद्धिका व्यक्ति भी धर्मके मूल रहस्यों तथा ईश्वरकी असीम शक्तियोंसे परिचित हो जाय और अपनी श्रद्धाके अनुसार भगवान्‌के जिस रूपको पसंद करे, उसीको अपना आराध्य बनाकर पूजा-अर्चना करे और इस प्रकार जीवनको ऊँचा उठाये।

ईश्वर निराकार है, पांचभौतिक आकारसे रहित है। उस स्वरूपका ज्ञान योगी-ऋषि-मुनि अपनी कुशाग्र बुद्धिसे कर सकते हैं। योगी चिन्तनद्वारा ईश्वरकी दिव्य शक्तियोंसे परिचित हो सकते हैं। साधु-महात्मा अपनी प्रतिभासे अपने गुण-कर्मके अनुसार ईश्वरीय शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। मूलतः ईश्वर एक है, पर उसकी अनेक शक्तियाँ हैं। उसी ईश्वरकी एक शक्ति इस संसारका निर्माण करती है, दूसरी भोजन-अन्न-जलद्वारा पालन करती है, तीसरी सृष्टिको नष्ट कर देती है। ये नाना शक्तियाँ ही हमारे तैंतीस करोड़ देवी-देवता हैं। प्रत्येक देवी-देवता एक मुख्य शक्तिका प्रतीक अथवा मूर्तरूप है। यों किसी साधारण व्यक्तिको एक अदृश्य शक्तिका ज्ञान कराना बड़ा कठिन है। उसकी कल्पना इतनी तीव्र नहीं होती कि उस शक्तिको ग्रहण कर सके। अतः हिंदू तत्त्ववेत्ताओंने प्रतीकवादका यह नया वैज्ञानिक रूप निकाला था।

प्रत्येक ईश्वरीय शक्ति एक देवी या देवताका रूप है, वह एक अदृश्य शक्तिको प्रकट करता है। इससे लाभ यह है कि एक देवी या देवतासे स्पष्ट होनेवाली शक्तिका अच्छा परिचय और प्रतीति हो जाय। मनोविज्ञानका यह अटल सिद्धांत है कि हम जिस शक्तिका अधिक देरतक चिन्तन या विचार करते रहते हैं, जिसको मूर्तरूपमें देखते हैं, उसी शक्तिको अपने अंदर ग्रहण भी करते हैं। उस शक्तिको धारण करनेसे हमारे मन, बुद्धि

और शरीरमें नयी क्षमता और अजेय संकल्प उत्पन्न होता है। जहाँ धर्म, वहाँ शक्ति है, यह बिलकुल सत्य है। धर्मका अर्थ है सत्य और न्याययुक्त चेष्टा, क्रिया; जो सत्य और न्याययुक्त है, उसे शक्तिमान् होना ही चाहिये। ईश्वरकी शक्तिसे आत्माके माध्यमद्वारा हम ताकत लेते हैं। जो गुण ईश्वरमें हैं, वे ही हमारी आत्मामें हैं। इस प्रकार ईश्वरकी जिस शक्ति अर्थात् जिस देवी-देवताकी हम आराधना करते हैं, वही हमारे चरित्रमें विकसित हो जाती है।

तात्पर्य यह कि देवपूजा ईश्वरकी शक्ति ग्रहण करनेकी मनोवैज्ञानिक रीति है। शक्तिका चित्र तो कल्पनाकी ही तस्वीर है। प्रतीक तो आखिर प्रतीक ही है। वह तो एक आधार है, जिसका गुप्त तात्पर्य समझना चाहिये और उसकी शक्तिसे चरित्रमें धारण करना चाहिये। हमारे देवता ईश्वरके नाना गुणोंके बोधक प्रतीक हैं, मूर्तस्वरूप हैं। उन गुणोंके अनुसार ही उनकी विचित्र आकृतियाँ हैं, वेशभूषा हैं और वाहन हैं।

जब किसी गुणकी कल्पना करनेके लिये कहा जाय तब आपको अपने मनमें किसी-न-किसी प्रकारकी कल्पना या चित्र तैयार करना पड़ेगा। विचार किसी-न-किसी रूपमें तो प्रकट होगा ही, मस्तिष्क कोई आकृति जरूर बनायेगा। दिव्य दृष्टि रखनेवाले योगियोंने ईश्वरकी शक्तियोंकी जो आकृतियाँ तैयार की हैं, वे देवी-देवता कहलाती हैं। यह एक प्रतीक प्रणाली है। जैसे भाषाका अक्षर-विज्ञान सूक्ष्म आकृतियोंपर निर्भर रहता है, उसी प्रकार ईश्वरीय लिपि हमारे ये देवतागण हैं।

ईश्वरकी सबसे बड़ी शक्ति है वह, जो सृष्टिका निर्माण करती है। उसे 'ब्रह्मा' कहा गया है। ब्रह्माका आकार एक ऐसे पिताका आकार है, जो हर प्रकार अपनी संतानकी देख-भाल करता है, उसे भोजन देता है, रहनेमें सहायता प्रदान करता है। विष्णु उन शक्तियोंके प्रतीक हैं, जो संतानका पालन, विकास और शासन करती हैं; शंकर उन शक्तियोंके प्रतीक हैं, जो जीर्णता पैदा कर क्रमशः विनाशकी ओर ले जाकर अन्तमें संहार कर देती हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेश ईश्वरकी उत्पादक, पालक और संहारक शक्तियोंके प्रतीक हैं।

विघ्न-बाधाओंको दूर करने और बुद्धिको ठीक मार्गपर रखनेवाली भी एक ईश्वरीय शक्ति है। सन्मार्गपर स्थिर रखनेवाली इस शक्तिका नाम है गणेश। गणेशका चित्र कुछ अजीब-सा है—हाथीके समान मुख, वक्रतुण्ड, एकदन्त, मोटा पेट और वाहन चूहा! हाथी-जैसा चौड़ा मस्तक विवेकको प्रकट करता है। हाथीके दाँत खानेके और दिखानेके अलग-अलग होते हैं। ये दाँत यह प्रकट करते हैं कि अपने काममें विघ्न न चाहनेवाले आदमीको चाहिये कि वह सज्जन पुरुषोंसे जहाँ सिर भिड़ानेसे बचे, उदारताका व्यवहार करे, कुलोचित प्रतिष्ठाका ध्यान रखे, वहाँ संयोगवश उनकी कही हुई छोटी-मोटी-ओछी या कड़वी बातोंको अनसुनी कर दे। अकारण हुए शत्रुओंसे सावधान रहते हुए अपना खुला विरोध न प्रकट होने दे, किंतु दिखावेके दाँतोंकी तरह बाह्य व्यवहार शिष्ट रखे। हाथीकी सूँड़ या नाक प्रतिष्ठित कुलकी इज्जत बनाये रखनेकी प्रतीक है। यह हमें यह शिक्षा देती है कि हम कहीं कोई दुर्व्यवहार न कर बैठें, जिससे हमारी नाक कट जाय, अर्थात् यश और प्रतिष्ठा नष्ट हो जाय। हाथीके बड़े कान हमें यह सिखाते हैं कि दूसरोंकी बातोंको खूब सुनें। हाथीके नेत्र भी विचित्र हैं। उसे अपने छोटे-छोटे नेत्रोंसे छोटी-छोटी वस्तुएँ भी बड़ी-बड़ी दीखती हैं। छोटोंके प्रति भी समुचित आदर-सत्कारका दृष्टिकोण निर्विघ्नताके इच्छुकको अपनाना चाहिये—यह शिक्षा हमें गणेशजीसे मिलती है। इसीलिये गणेशको 'सिद्धिदाता' कहा गया है।

तर्कका प्रतीक चूहा है। चूहा अपने छोटे-छोटे दाँतोंसे बहुत-सी वस्तुओंको काट-छाँट डालता है। वह रात-दिन काट-छाँट ही करता रहता है। यह हमें सिखाता है कि अपने कार्यमें विघ्न न चाहनेवाले साधकको अपने कुतर्कोंको काट डालना चाहिये। गणेशके ज्ञानके भारसे अपनी वासनाको दबाये रहें। तर्क-प्रणालीको उच्छृंखल न बनायें।

श्रीलक्ष्मीनारायणजी बृहस्पतिने गणेशजीके वाहन चूहेपर जो कुछ लिखा है, वह भी विचारणीय है। देखिये—

'गजके समान विशाल मानवशरीरका वाहन सूक्ष्म मनरूपी चूहा ही है। वाहनकी स्वच्छन्दताकी स्थितिमें वाहनारूढ़का अस्थिर हो जाना

स्वाभाविक है, किंतु नियन्त्रित कर दिये जानेपर मनकी एकाग्रता हो जानेपर संसारके सभी सुखोंकी प्राप्तिसे लेकर भगवत्प्राप्तितक की जा सकती है। मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। इस तरह मनरूपी चूहेके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर मनुष्यको अपना आत्मिक ज्ञान होनेमें देर नहीं लगती। कम-से-कम वह आत्मज्ञानका अधिकारी तो अवश्य हो जाता है। मनरूपी चूहेका असली स्वरूप सामने आते ही उसकी चंचलता पलायमान हो जाती है और उसे बाध्य होकर स्थिर हो जाना पड़ता है। स्थिर मन ही संसारकी समस्त साधनाओंको सफलीभूत करनेका साधन है।

चूहा बुद्धिमान् और चपल होता है। यह गुण विघ्नविनाशक गणेशमें भी मूर्तिमान् है।

दुर्गा भगवती शक्तिकी प्रतीक देवी हैं। उनके आठ हाथ हैं; जिसका तात्पर्य यह है कि उनमें चार व्यक्तियोंके समान शारीरिक शक्ति और सामर्थ्य है। उनके प्रत्येक हाथमें शक्तिसूचक कोई-न-कोई हथियार रखा गया है—तलवार, कुल्हाड़ी, चक्र, शंख, गदा, ढाल इत्यादि। दुर्गा क्षत्रियोंकी मुख्य देवी हैं। जब क्षत्रिय अपने सामने दुर्गाका चित्र या प्रतिमा रखकर पूजन करता है, तब वह वास्तवमें अपनी गुप्त शक्तियोंको जाग्रत् करता है; रोम-रोममें शक्तिका प्रादुर्भाव करता है। वह मनमें यह अनुभव करता है, जैसे दुर्गाकी समस्त शक्ति उसके अंग-प्रत्यंगमें प्रविष्ट हो रही हो, वह बलवान् बनता जा रहा हो।

दुर्गाका वाहन सिंह है। सिंह सब पशुओंका राजा, अतुल शारीरिक शक्तिका भण्डार, अपूर्व बलशाली वन्य पशु है। उसके चेहरेपर भयानकता विद्यमान है, जिसे देखकर साधारण मनुष्य डर जाता है। पूँछ ऊँची उठाये वह दुर्गाको अपने शरीरपर धारण किये हुए है। दुर्गाका वाहन सिंह इसलिये रखा गया है कि मोटी बुद्धिवाला भक्त भी इस प्रतीकका गुप्त अर्थ समझ सके और शक्तिका आह्वान कर सके। दुर्गामें सर्वत्र शक्ति-ही-शक्तिका समावेश है। उनके मुखमण्डलपर शक्तिका तेज प्रकट हो रहा है; अंग-अंगसे शक्ति स्पष्ट हो रही है।

श्रीलक्ष्मीजी धन-धान्य और समृद्धिकी देवी हैं। अर्थ-शक्तिका मूर्तरूप लक्ष्मीकी प्रतिमामें प्रस्तुत किया गया है। धनको भी देवीका रूप इसलिये दिया गया है कि लोग उसकी पवित्रताको समझ सकें और वैध रूपोंसे ही अर्थका अर्जन करें। लक्ष्मीजीका रूप ऐसा है, जिससे सर्वसमृद्धि प्रकट हो रही है। वैभव स्पष्ट हो रहा है। लक्ष्मीको उलूक-वाहिनी कहा गया है अर्थात् उल्लू उनका वाहन है। उल्लू मूर्खको कहते हैं, धनका ऐसा स्वभाव है कि वह अशिक्षित मूढ़ व्यक्तियोंके पास एकत्रित हो जाता है। धनपति, पूँजीपति प्रायः अशिक्षित ही होते हैं। पर यदि शिक्षित भी हों तो धन आते ही वे प्रायः उसके नशेमें अंधे होकर मूर्ख—उल्लू बन जाते हैं! धनके इसी स्वभावको लक्ष्मीका वाहन उल्लू प्रकट कर देता है।

सरस्वती विद्या और ज्ञानकी देवी हैं। ललित कलाओं—विशेषतः संगीतका प्रादुर्भाव उन्हींसे है। उनका स्वभाव है—उचित, अनुचित, भले-बुरेकी पहचान। जो व्यक्ति विद्या पढ़ लेता है, उसे नीर-क्षीर-विवेक आ जाता है। वह अपने अच्छे-बुरेको समझने लगता है और सत्यके मार्गका अनुसरण करता है। अतः उनका वाहन हंस माना गया है। हंसका गुण ही नीर-क्षीर-विवेक है। वह दूध-का-दूध और पानी-का-पानी कर देता है। जो व्यक्ति सरस्वतीकी साधना करेगा, वह हंसके गुणोंको अपने व्यक्तित्वमें विकसित करेगा—हंसकी तरह स्वच्छ और सुन्दर बनेगा।

शिव कल्याणकारी हैं। सृष्टिका कल्याण करते हैं। इस कल्याणकी भावनाको वाहनद्वारा कैसे प्रकट किया जाय? कौन-सा ऐसा पशु हो सकता है, जो मानवमात्रके लिये कल्याणकारी हो! सोचते-सोचते भारतीय धर्माचार्योंको बैल ऐसा पशु मिला, जो सबसे अधिक कल्याणकारी और उपयोगी है। बैलसे खेती और अन्नकी उत्पत्तिका विधान है। बैल न हो तो कृषकके जीवनका ही अन्त हो जाय। अतः शिव-जैसे कल्याणकारी देवताका वाहन बैल चुना गया। बैलको देखकर ही साधारण व्यक्ति समझ सकता है कि वह कल्याणके देवताकी उपासना कर रहा है।

विष्णु सृष्टिके पालक हैं, रक्षक हैं, आनेवाली समस्त कठिनाइयों और विपत्तियोंसे संसार और समाजकी रक्षा करनेवाले हैं। यदि वे रक्षा न करें तो मानवमात्रपर अनेक विपत्तियाँ आ सकती हैं। साधारण व्यक्तिपर यह रक्षाका भाव कैसे, किस पशु-पक्षीद्वारा प्रकट किया जाय? इसके लिये पक्षिराज गरुड़को चुना गया। विष्णुका वाहन गरुड़ है। पक्षियोंमें गरुड़की समताका अतिशीघ्रगामी, बलवान् और वीर पक्षी नहीं है। जिसकी रक्षा वह करे, उसपर भला क्योंकर विपत्ति आ सकती है। उसका कौन कुछ बिगाड़ सकता है?

भैरव नगरके रक्षक माने गये हैं। वे उस सजग प्रहरीकी तरह हैं, जो नगरमें आनेवाली विरोधी शक्तियोंको दूर करता है। यह भाव प्रकट करनेवाला पशु कुत्ता है। यदि कुत्ता आपके दरवाजेपर सजगतासे पहरा देता रहे, आपका रक्षक बने तो कौन हानि पहुँचा सकता है। भैरवके चित्रके साथ कुत्ता देखकर हम अनायास ही यह मालूम कर सकते हैं कि ये नगररक्षक हैं।

शीतलाका वाहन गधा है। गधेमें एक बड़ा गुण है। यह है उसकी सहनशक्ति। सहनशक्तिका प्रतीक गधा है।

सूर्य-देवताका वाहन अश्व है। सूर्य अपनी गतिको नहीं छोड़ते, चाहे मौसम कैसा ही क्यों न हो। निर्दिष्ट समयपर उदित होकर अपनी निर्धारित यात्राको पूरा करना, एक ही गतिसे चलते रहना सूर्यका स्वभाव है। गतिको प्रकट करनेवाला पशु घोड़ा है। घोड़ेको सूर्यके साथ देखकर हम स्वत: मालूम कर सकते हैं कि सूर्य हमारे समय और गतिको प्रकट कर रहे हैं। एक ही गतिसे उन्नतिके मार्गपर चलो। परिस्थिति या मौसमकी परवा मत करो। अपना निर्धारित कार्य पूरा करनेका सदा-सर्वदा ध्यान रखो। दिनभर अपना कार्य अनवरत गतिसे पूरा करो—ये सब भाव सूर्य-देवतासे प्रकट होते हैं।

इन्द्रका ऐश्वर्य प्रसिद्ध है। इस शान-शौकत, दर्प-विपुलताको प्रकट करनेके लिये उनका वाहन ऐरावत हाथीको चुना गया। ऐरावतकी मस्त चाल, शान, दर्प देखकर साधारण योग्यताका व्यक्ति

भी यह अनुमान लगा सकता है कि यह महामहिम इन्द्र है।

देवताओंके सेनापति कार्तिकेयको मोरका वाहन दिया गया है। कहा गया है—

विकसदमरनारीत्रनीलाब्जखण्डा-
न्यधिवसति सदा यः संयमाधःकृतानि।
ननु रुचिरकलापे वर्तते यो मयूरे
वितरतु स कुमारो ब्रह्मचर्यश्रियं वः॥

अर्थात् जिन्होंने अपने संयमकी महिमासे देवताओंकी स्त्रियोंके विकसित नील कमलकी पँखुड़ियोंके समान बड़े-बड़े गौरवपूर्ण नेत्रोंको भी नीचा कर दिया है तथा जो रुचिर-कलापी मयूरपर ही स्थित हैं, वे कुमार कार्तिकेय ब्रह्मचर्यरूपी श्रीका वितरण करें।

मोरको अहिमार या साँपोंको मारनेवाला कहा गया है। 'अहि' शब्दका व्यापक अर्थ लें तो वह उन सब विश्वासघातियोंके लिये भी प्रयुक्त होता है, जो तनिक-से स्वार्थके लिये शत्रुपक्षसे मिलकर सब भेद खोल देते हैं। ऐसे व्यक्तियोंको भी शत्रु ही मानना चाहिये। देवताओंके सेनापति कार्तिकेय ऐसे सब शत्रुओंसे सावधान रहने तथा उन्हें दण्ड देनेवाले हैं। वे शत्रुके सब गुप्तचरों—आस्तीनके साँपोंका नाश करनेवाले हैं। देवसेनापति कुमार कहे गये हैं। जो सेनापति जितेन्द्रिय होगा, वह निश्चय ही कर्तव्यमार्गपर उठा रहेगा।

तात्पर्य यह है कि हिन्दूधर्मके इन प्रतीकोंमें गूढ़ रहस्य छिपे हुए हैं। इनके गुप्त मर्मोंको देखकर प्राचीन ऋषियोंकी बुद्धिपर चकित रह जाना पड़ता है। ये हमारे गौरवशाली अतीत, हमारे समीक्षात्मक ज्ञान, नीर-क्षीर-विवेक-बुद्धि और प्रतीकवादको स्पष्ट करनेवाले हैं। नागरिक जीवनमें पौराणिक देवी-देवताओंद्वारा वे ज्ञानका भण्डार भर देना चाहते थे। खेद है कि आजके भौतिक युगमें हमारे बहुत-से वाहनोंका सच्चा अर्थ स्पष्ट नहीं है, क्योंकि धार्मिक प्रतीकोंके प्रति कुछ श्रद्धा कम होती जा रही है।

भोजनकी सात्त्विकतासे मनकी पवित्रता आती है!

'जैसा भोजन वैसा विचार' या 'जैसा अन्न वैसा मन' इस तथ्यमें गहरी सत्यता है। हम जैसा कुछ खाते हैं, वैसा ही मन बनता है, खाये हुएसे ही रुधिरकी उत्पत्ति होती है। इसमें वे ही गुण आते हैं, जो गुण हमारे भोजनके थे। भोजन हमारे मन, बुद्धि, अन्तःकरणके निर्माणमें सहायक है। भारतीय संस्कृतिमें अध्यात्ममार्गका अवलम्बन करनेवाले योगी-महात्मा, ऋषि-मुनि इत्यादि सात्त्विक प्रवृत्तिके व्यक्तियोंके लिये सात्त्विक भोजनकी ही योजना है।

मनुष्यकी सर्वांगीण उन्नति तब होती है, जब वह प्राकृतिक रूपसे मिलनेवाले भोजनसे अपने-आपको पुष्ट करता रहे। मृदुता, सरलता, सहानुभूति, शान्ति अथवा उग्रता, क्रोध, कपट, घृणा इत्यादि सब स्वभावके गुण-दोष भोजनपर ही निर्भर करते हैं। जो व्यक्ति उत्तेजक भोजन करते हैं, वे संयमसे किस प्रकार रह सकते हैं? वे शुद्ध बुद्धिका विकास कैसे कर सकते हैं? और वे कैसे दीर्घायु हो सकते हैं? राजसी आहार करनेवाले व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि उत्तेजक भोजन करनेपर भजन-पूजन, स्वाध्याय या संयम सम्भव नहीं है।

हमारे द्वारा प्रयुक्त भोजनका तथा हमारे विचारोंका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। भोजन हमारे संस्कार बनाता है, जिनके द्वारा हमारे विचार बनते हैं। यदि भोजन सात्त्विक है तो मनमें उत्पन्न होनेवाले विचार सात्त्विक और पवित्र होंगे; इसके विपरीत उत्तेजक या राजसी भोजन करनेवालोंके विचार अशुद्ध और विलासी होंगे। जिन लोगोंमें मांस, अंडे, लहसुन, प्याज, मद्य, चाय, तम्बाकू इत्यादिका प्रयोग किया जाता है, वे प्रायः विलासी विकारमय और गंदे विचारोंसे परिपूर्ण होते हैं। उनकी कामेन्द्रियाँ उत्तेजक रहती हैं, मन कुकल्पनाओंसे परिपूर्ण रहता

है। क्षणिक प्रलोभनमें अन्तर्द्वन्द्वसे परिपूर्ण हो जाता है। भोजन हमारे स्वभाव, रुचि तथा विचारोंका निर्माता है।

पशु-जगत्‌को लीजिये। बैल, भैंस, घोड़े, गधे, हाथी, बकरी इत्यादि शारीरिक श्रम करनेवाले पशुओंका मुख्य भोजन घास-पात, हरी तरकारियाँ या अनाज रहता है। फलतः वे सहनशील, शान्त, मृदु होते हैं। इसके विपरीत सिंह, चीते, भेड़िये, बिल्ली इत्यादि मांसभक्षी, चंचल, उग्र, क्रोधी, उत्तेजक स्वभावके बन जाते हैं। घास-पात तथा मांसके भोजनका यह प्रभाव है। इसी प्रकार उत्तेजक भोजन करनेवाले व्यक्ति कामी, क्रोधी, झगड़ालू, अशिष्ट होते हैं। विलासी भोजन करनेवाले आलस्यमें डूबे रहते हैं; दिन-रातमें दस-बारह घंटे वे सोकर ही नष्ट कर देते हैं। सात्त्विक भोजन करनेवाले हलके, चुस्त, सत्-कार्योंके प्रति रुचि प्रदर्शित करनेवाले, कम सोनेवाले और मधुर स्वभावके होते हैं। उन्हें कामवासना अधिक नहीं सताती। उनके आन्तरिक अवयवोंमें विष-विकार एकत्रित नहीं होते। जहाँ अधिक भोजन करनेवाले अजीर्ण, सिरदर्द, कब्ज, सुस्तीसे परेशान रहते हैं, वहाँ कम भोजन करनेवालोंके आन्तरिक अवयव शरीरमें एकत्रित होनेवाले कूड़े-कचड़ेको बाहर फेंकते रहते हैं, विष-संचय नहीं हो पाता।

भोजनकी उपयोगिता स्पष्ट करते हुए एक वैद्य-विशारद लिखते हैं— 'भोजनसे शरीरका छीजन, जो हर समय होता रहता है, दूर होता है। यदि यह छीजन दूर न होगा तो कोष दुर्बल हो जायँगे और चूँकि शरीर कोषोंका एक समूह है, कोषके दुर्बल होनेसे सम्पूर्ण शरीर दुर्बल हो जायगा। कोषोंको वे ही पदार्थ मिलने चाहिये, जिनकी उन्हें आवश्यकता हो, जैसे गरमी तथा स्फूर्ति देनेवाले, उनको पुष्ट करने और अच्छी हालतमें रखनेवाले पदार्थ। कोषोंके अंशोंके टूटने-फूटनेसे शरीरमें बहुत-से विषैले अम्ल-पदार्थ एकत्रित हो जाते हैं। इनको दूर करनेके लिये क्षार बनानेवाले पदार्थ (पके-मीठे फल, खट्टे फल, नीबू, आम, चकोतरे, अनन्नास, रसभरी, कच्ची या प्राकृतिक ढंगसे

पकायी गयी साग, सब्जी, दूध, घी, मीठा, दही, छाछ) खाने चाहिये।

भोजनका आध्यात्मिक उद्देश्य

भोजन करनेका एक आध्यात्मिक उद्देश्य है। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने गीताजीमें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न करनेवाले भोजनोंकी ओर संकेत किया है। जिस व्यक्तिका जैसा भोजन होगा, उसका आचरण भी तदनुकूल होता जायगा। भोजनसे हमारी इन्द्रियाँ और मन संयुक्त हैं—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। (छान्दोग्य०)

अर्थात् 'आहारकी शुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि होती है। सत्त्वकी शुद्धिसे बुद्धि निर्मल और निश्चयी बन जाती है, फिर पवित्र और निश्चयी बुद्धिसे मुक्ति भी सुलभतासे प्राप्त होती है।'

जिन्हें काम, क्रोध, उत्तेजना, चंचलता, निराशा, उद्वेग, घबराहट, शक्तिहीनता या अन्य कोई मनोविकार है, उन्हें उसकी चिकित्सा भोजनद्वारा ही करनी चाहिये। सात्त्विक भोजनसे चित्त निर्मल हो जाता है, बुद्धिमें स्फूर्ति रहती है। अध्यात्म-जगत्‌में उपवासका अत्यधिक महत्त्व है। अधिक खाये हुए अन्न पदार्थको पचाने और उदरको विश्राम देनेके लिये हमारे ऋषियोंने उपवासकी योजना की है। चित्तवृत्तियाँ भोजनमें लगी रहनेसे किसी उच्च विषयपर ध्यान एकाग्र नहीं होता। उपवाससे काम, क्रोध, रोगादि फीके पड़ जाते हैं और मन हठात् दुष्कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता। सात्त्विक अल्पाहार करनेवाले व्यक्ति अध्यात्ममार्गमें दृढ़तासे अग्रसर होते हैं। जो अन्न बुद्धिवर्धक हो, वीर्यरक्षक हो, उत्तेजक न हो, कब्ज न करे, रक्त दूषित न करे, सुपाच्य हो—वह सत्त्वगुण युक्त आहार है। अध्यात्म-जगत्‌में उन्नति करनेके इच्छुकोंको, पवित्र विचार और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले तथा ईश्वरीय तेज उत्पन्न करनेवाले अभ्यासियोंको सात्त्विक आहार करना चाहिये।

सात्त्विक आहार क्या है?

सात्त्विक आहार

**आयु:सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना:	।**
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्त्विकप्रिया:॥
(गीता १७। ८)

जो ताजा, रसयुक्त, हलका, स्नेहयुक्त, पौष्टिक, हृद्य और मधुर हो और जिससे आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ती हो, उसे सात्त्विक आहार कहते हैं। जैसे गेहूँ, चावल, जौ, साठी, मूँग, अरहर, चना, दूध, घी, ऊँख, फल, सेंधा नमक, रतालू, शकरकन्द, तरकारियाँ, शाक इत्यादि। शाकोंमें घीया, तुरई, खीरा, पालक, मेथी आदिका विशेष महत्त्व है। ये हलके, सुपाच्य तथा शुभ प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करनेवाले पदार्थ हैं। फलोंमें आम, तरबूज, खरबूजा, आलूबुखारा, नारंगी इत्यादि उत्तम हैं। दही भूलोकका अमृत है। सात्त्विक पुरुष दही, छाछ, मक्खन इत्यादिका खूब प्रयोग कर सकते हैं।

स्वामी शिवानन्दजीके अनुसार हरे ताजे शाक, दूध, घी, बादाम, मक्खन, मिश्री, मीठे संतरे, सेव, अंगूर, केले, अनार, चावल, गेहूँकी रोटी, मखाना, सिंघाड़े और काली मिर्चका सेवन किया जा सकता है। सात्त्विक आहारसे चित्तकी एकाग्रता प्राप्त होती है। दहीकी लस्सी, मिश्रीका शरबत, नारंगी, नीबूके रसका प्रयोग सात्त्विक है। नीबूको खटाईमें गिनना भूल है। साधक इसका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकते हैं। इससे पित्तका शमन होता है तथा रक्त शुद्ध होता है। एकादशीके दिन अन्नका परित्याग कर दूध और फलोंका सेवन करना चाहिये। इससे इच्छाशक्ति बलवती होती है तथा जिह्वापर नियन्त्रण प्राप्त होता है।

प्रसिद्ध आत्मवादी डा० दुर्गाशंकर नागरकी सम्मति इस प्रकार है—'आध्यात्मिक पुरुषको अवस्था, प्रकृति, ऋतु तथा रहन-सहनके अनुसार विचारकर शीघ्र पचनेवाला सात्त्विक भोजन करना चाहिये। फलाहार सब आहारोंमें श्रेष्ठ है। संतरे, सेव, केले, अंगूर, चूसनेके आम आदि फल उत्तम होते हैं। फलाहारसे उतरकर अन्नाहार है। रोटी, मूँग, अरहरकी दाल, चावल, शाक, भाजी, दूध, मक्खन, घी आदिका

समावेश अन्नाहारमें होता है। आटा हाथका पिसा हुआ चोकरसहित उपयोगमें लेना चाहिये।

गेहूँ और जौ सत्त्वगुणी अनाज हैं; चनेका अधिक उपयोग वायुकारक होता है। कच्चे चनेको छिलकेसहित भिगोकर नसें फूटनेपर खाना बलकारी है। यही बात मूँगके सम्बन्धमें भी है। दालोंमें मूँग, मोठ, अरहर श्रेष्ठ हैं। सिंघाड़े, शकरकन्द सत्त्वगुणी हैं। चावल हितकर अनाज है। जो इसे पचा सकें, अवश्य लें। फलोंके रस, बादाम, खीरेके बीज, सौंफ, इलायची, गुलाबके फूलोंकी ठंडाई मिश्री मिलाकर पीना उत्तम है। गुड़ सर्वोत्कृष्ट मीठा है। गोदुग्ध सात्त्विक है।

मनको विकृत करनेवाला राजसी आहार क्या है?

राजसी आहार

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

कड़वा, खट्टा, नमकीन, बहुत गरम, तीखा, रूखा, जलन पैदा करनेवाला, ऐसे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले आहार राजस लोगोंको प्रिय होते हैं।' राजसी आहारका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे मन तथा इन्द्रियोंपर पड़ता है। मनमें कुकल्पनाएँ, वासनाकी उत्तेजना और इन्द्रियलोलुपता उत्पन्न होती है। मनुष्य कामी, क्रोधी, लालची और पापी बन जाता है; उसके रोग, शोक, दुःख, दैन्य अभिवृद्धिको प्राप्त होते हैं। मनुष्यकी आयु, तेज, सामर्थ्य और सौभाग्यका तिरोभाव होता है। बुद्धि मलिन होती है।

राजसी आहारकी सूची देखिये

करेला, नीम, इमली, बहुत नमकीन, सोडा आदि क्षार, गरम-गरम चीजें, राई, गरम मसाला, भाड़के भूजे पदार्थ, लाल मिर्च, तेलके तले हुए गरिष्ठ पदार्थ, बाजारमें बिकनेवाली मिठाइयाँ, रबड़ी, पूड़ी-कचौड़ियाँ, मालपुआ, तली हुई दालें, अधिक मिर्च-मसालेवाले पदार्थ, उत्तेजक तरकारियाँ, केवल जिह्वाके स्वादमात्रके लिये तैयार की गयी बाजारू चाटें, पकौड़ी, समोसे, दही-बड़े, खस्ता कचौड़ियाँ, मसालेदार काबुली चने, चाय—ये सभी चीजें दुःख, चिन्ता और रोग पैदा करती

हैं। इनके अतिरिक्त खानेका पान-चूना, तम्बाकू आदि भी राजसिक हैं।

हिन्दू-शास्त्रमें प्याज तथा लहसुन वर्जित हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि ये उत्तेजना उत्पन्न करनेवाली तरकारियाँ हैं। ये तमोगुणी हैं। राजसी, तामसी, विलासी व्यक्ति इनका प्रयोग करते हैं, इनसे इन्द्रियाँ कामुक हो उठती हैं। इन्हें खानेवाले लोग विलासी, क्रोधी, विक्षुब्ध और उत्तेजनाओंमें फँसे रहते हैं। उनके मुँहसे दुर्गन्ध आती है।

दालोंमें उर्द-मसूर पौष्टिक होते हुए भी अपने गुणोंमें तामसिक हैं। यही कारण है कि हिन्दू मसूरकी दालसे परहेज करते हैं। वह ठाकुरजीके भोगमें निषिद्ध है। चटनियाँ, अचार, तेल, खटाई, सोंठ भी राजसिक हैं। रोटीमें नमक डालकर पकानेसे वह भी मनकी राजसिक वृत्तिको प्रोत्साहित करती है। कुछ लोग बर्फके बिना पानी नहीं पी सकते; सोडा-लैमन बार-बार पीते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिसे यह बुरा है। राजसी आहारसे मन चंचल, क्रोधी, लालची होता और विषय-वासनामें लगता है।

तामसी आहार क्या है?

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(गीता १७। १०)

मनुष्यका भोजन अनाज तथा तरकारियाँ हैं। एक-से-एक सुस्वादु और गुणकारी फल परमात्माकी सृष्टिमें हैं, मेवोंका ढेर मनुष्यको सुखी करनेके लिये उत्पन्न किया गया है, दूध और शहद-जैसे अमृत-तुल्य पेय पदार्थ मानवके लिये सुरक्षित हैं। किंतु शोक! महाशोक! मनुष्य फिर भी तामसी आहार लेता है।

तामसी आहारोंमें मांस आता है। मांस-मछलीका प्रयोग केवल स्वादमात्रके लिये बढ़ रहा है। अंडोंका प्रयोग किया जा रहा है। भाँति-भाँतिकी शक्तिवर्द्धक जान्तव दवाइयाँ, मछलियोंके तेल, गुटिकाएँ, व्यसन इत्यादि तामसी वृत्ति उत्पन्न करते हैं। तामसी आहारमें अधपका, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूँठा और विषम (अर्थात् बेमेल भोजन)

भी सम्मिलित है। बिस्कुट, डबलरोटी, चाकलेट, आमलेट, मांससे तैयार होनेवाले नाना पदार्थ, कॉड-लिवर-आयल, विलायती दवाइयाँ, काफी, कोको, शराब, कोकिन, गाँजा, चरस, अफीम, चंडू, सिगरेट, बीड़ी इत्यादि सब तामसी वृत्ति उत्पन्न करते हैं।

तामसी आहारसे मनुष्य प्रत्यक्ष राक्षस बन जाता है। ऐसा पुरुष सदा दुःखी, बुद्धिहीन, क्रोधी, लालची, आलसी, दरिद्री, अधर्मी, पापी और अल्पायु बन जाता है।

जितना ही अधिक अन्न पकाया जाता है, उतना ही उसके शक्ति-तत्त्व विलीन हो जाते हैं! स्वाद चाहे बढ़ जाय; किंतु उसके विटामिन पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। कई-कई रीतियोंसे उबालने, भूनने या तेलमें पूड़ी-कचौड़ीकी तरह तलनेसे आहार निर्जीव होकर राजसी-तामसी बन जाता है। विलायती दूध, सूखा दूध, रासायनिक दवाइयाँ, बाजारू मिठाइयाँ निर्जीव होकर अपना शक्ति-तत्त्व नष्ट कर देती हैं।

भोजनमें सुधार करना शारीरिक कायाकल्प करनेका प्रथम मार्ग है। जो व्यक्ति जितनी शीघ्रतासे गलत भोजनोंसे बचकर सही भोजन करनेवाले हो जायँगे, उनके शरीर दीर्घकालतक सुदृढ़, पुष्ट और स्फूर्तिमान् बने रहेंगे। क्षणिक जिह्वासुखको न देखकर, भोजनसे शरीर, मन और आत्माका जो संयोग है, उसे सामने रखना चाहिये। जबतक अन्न शुद्ध नहीं होगा, अन्य धार्मिक, नैतिक या सामाजिक कृत्य सफल नहीं होंगे। अन्नशुद्धिमें सबसे बढ़कर आवश्यक है—शुद्ध कमाईके पैसेका अन्न। जिसमें झूठ, कपट, छल, घूस, अन्याय, वस्तुओंमें मिलावट आदि न हो—इस प्रकारकी आजीविकासे उपार्जित धनसे जो अन्न प्राप्त होता है वही शुद्ध अन्न है। अतएव व्यापार, नौकरी या अन्य पेशेमेंसे यह पाप निकलना चाहिये। नहीं तो, शुद्ध आहार स्वप्नकी-सी बात हो जायगी।

इसके बाद जातिसे सात्त्विक, निर्माणमें सात्त्विक, भावमें सात्त्विक और स्थानकी दृष्टिसे भी जो सात्त्विक होता है, वही शुद्ध सात्त्विक आहार है और उसीसे पवित्र मन बनता है तथा आध्यात्मिक उन्नति होती है।

भोजनमें महान् ईश्वरीय शक्तिका प्रवेश कीजिये

आहारशुद्धौ सत्त्वशद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

अर्थात् शुद्ध आहार ग्रहण करनेसे अन्त:करणकी शुद्धि होती है और अन्त:शुद्धिसे स्मृतिरूप ध्यान निश्चल हो जाता है और निश्चल ध्यानकी सिद्धिसे जप-यज्ञ सिद्ध होता है।

जो भोजन हम खाते हैं, केवल उसीके द्वारा हमारे शरीरका पोषण और नवनिर्माण नहीं होता, प्रत्युत भोजन करते समय हमारी जो मन:स्थिति होती है, हमारा मन जैसे सूक्ष्म प्रभाव फेंकता है और जिन संस्कारों या वातावरणमें हम भोजन ग्रहण करते हैं, वे मनोभाव, विचार एवं भावनाएँ अलक्षितरूपमें भोजन और जलके साथ हम ग्रहण करते हैं, वे हमारे शरीरमें बसते और मांस, रक्त, मज्जा आदिका निर्माण करते हैं। अत: भोजन करते समय हमारे कैसे विचार और भावनाएँ हैं, इस तत्त्वपर हिंदू-शास्त्रोंमें बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया है। भोजन करते समयकी आन्तरिक मन:स्थितिकी स्वच्छता आवश्यक मानी गयी है। जैसी अच्छी-बुरी हमारी मन:स्थिति होगी, उसका वैसा ही प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ेगा।

स्मरण रखिये, उत्तम-से-उत्तम भोजन दूषित मन:स्थितिसे विकार और विषमय हो सकता है। क्रोध, उद्वेग, चिन्ता, चिड़चिड़ापन, आवेश आदिकी उद्विग्न मन:स्थितियोंमें किया हुआ भोजन विषैला हो जाता है। पुष्ट करनेके स्थानपर उलटा शरीरको हानि पहुँचाता और पाचन-क्रियाको विकारमय कर देता है। क्रोधकी स्थितिका भोजन न ठीक तरह चबाया जाता है, न उचित रीतिसे पचता ही है। इसी प्रकार चिन्तित मन:स्थितिका भोजन नसोंमें घाव उत्पन्न कर देता है। हमारी कोमल पाचन-नलिकाएँ शिथिल हो जाती हैं। इसके विपरीत प्रफुल्ल

मुद्रा एवं शान्त मनोऽवस्थामें खाया हुआ अन्न हास्य तथा प्रसन्नताके वातावरणमें लिया हुआ भोजन शरीर और मनके स्वास्थ्यपर जादू-जैसा गुणकारी प्रभाव डालता है। अन्त:करणकी शान्त-सुखद वृत्तिमें किये हुए भोजनके साथ-साथ हम प्रसन्नता, सुख-शान्ति और उत्साहकी स्वस्थ भावनाएँ भी खाते हैं, जिसका स्वास्थ्यप्रद प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ता है। आनन्द एवं प्रफुल्लता ईश्वरीय गुण हैं, क्लेश, चिन्ता, उद्वेग, आसुरी प्रवृत्तियाँ हैं। इन दोनों प्रकारकी चित्तवृत्तियोंके अनुसार ही हमारा दैनिक भोजन दैवी या आसुरी गुणोंसे युक्त बनता है।

क्या आपने ध्यानसे देखा है कि हँसते-हँसते दूध पीनेवाला प्रशान्त, निर्दोष शिशु किस सरलतासे साधारण-सा दूध और मामूली अन्न खा-पचाकर कैसा मोटा-ताजा, सुडौल, सात्त्विक और निर्विकार बनता जाता है। उसके मुख-मण्डलपर सरलता खेलती है। उसी प्रकार निर्दोष, शान्त, प्रफुल्ल, निर्विकार वृत्तिसे आनन्दपूर्वक किया हुआ भोजन हमारे शरीरको आनन्द, आरोग्य और स्वास्थ्य दे सकता है।

हमारे जीवनके विकासके साथ-साथ हमारे गुप्त मनका भी विकास चलता रहता है और गुप्त मन हमारे शरीरमें अज्ञातरूपसे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियाएँ किया करता है। इन प्रतिक्रियाओंका प्रभाव निरन्तर चलता रहता है। पोषण, रुधिराभिसरण, मलविसर्जन, नवनिर्माण, नूतन शक्तिका उत्पादन आदि सभी कार्य-व्यापार अन्तर्मनसे होते रहते हैं।

सुन्दर स्वास्थ्यके लिये प्रथम आवश्यक तत्त्व है निर्लेप, भव्य और उत्तम मन:स्थिति। भव्य मन:स्थितिके बिना उन्नत स्वास्थ्य प्राप्त नहीं हो सकता। क्लान्त, भयपूर्ण या उद्विग्न मन:स्थितियोंमें भोजन करना रोग-शोकको निमन्त्रण देना है।

थियोसोफिकल सोसाइटीके प्रसिद्ध नेता महात्मा लेडबीटरने 'वस्तुकी आन्तरिक दशा' नामक एक बहुत ही खोजपूर्ण पुस्तक इस विषयपर लिखी है। उसमें उन्होंने एक स्थलपर लिखा है, 'जो कुछ भोजन हम खाते हैं, वह पाचनके उपरान्त शरीरका एक भाग बन जाता है। उस

भोजनपर जिस प्रकारके सूक्ष्म प्रभाव अंकित हो जाते हैं, वे भी हमारे शरीरमें बस जाते हैं। लोग खाद्य वस्तुओंकी केवल बाहरी सफाईपर ध्यान देते हैं—किंतु वे यह भूल जाते हैं कि बाहरी सफाईपर ध्यान देना जितना आवश्यक है; उससे कहीं अधिक आवश्यक उसकी आन्तरिक स्वच्छतापर ध्यान देना है।'

भारतवर्षमें भोजनकी आन्तरिक स्वच्छताको अधिक महत्त्व दिया जाता है। हिंदूलोग अपनेसे नीच विचारके लोगोंके हाथका बना हुआ या उनके साथ बैठकर खाना इसलिये नापसंद करते हैं कि उनके गुप्त, हीन विचारोंसे प्रभावित होनेसे भोजनकी पवित्रता जाती रहेगी। विलायतमें लोग बाहरी सफाईको ही पर्याप्त समझते हैं। वे नहीं जानते कि केवल इतनेसे ही भोज्य पदार्थ उत्तम गुणवाले नहीं बन जाते।

भोजनपर सर्वप्रथम तो बनानेवाले व्यक्तिका बहुत प्रभाव पड़ता है। अतृप्त, भूखा, लालची, क्रोधी, हिंसावृत्तियुक्त, अधिक निम्न जातिका या गंदा रसोइया अपने सम्पर्कसे ही भोजनको दूषित कर देता है। एक तो वह शरीर या वस्त्रोंसे स्वच्छ नहीं होता और उसके शरीर या वस्त्रोंकी अस्वच्छता ही भोजनको दूषित कर देती है। दूसरे उसकी लालची मनोवृत्ति, स्वयं भोजन ग्रहण करनेकी इच्छा निरन्तर भोजनपर विषैला प्रभाव डाला करती है। बाजारू भोजन, दूकानोंपर बिकनेवाली मिठाइयाँ, नमकीन, दूध इत्यादिपर असंख्य अतृप्त भूखे व्यक्तियोंकी लुब्ध दृष्टियाँ पड़कर उन्हें दूषित बना देती हैं। अतः वे न पचती हैं, न शरीरको ही लाभ पहुँचता है। होटलोंमें रसोइया या परोसनेवाले व्यक्ति मशीन-जैसे सहानुभूति-शून्य बन जाते हैं। अतः इस बाजारू भोजनसे कोई लाभ नहीं।

सावधान रहिये, भोजन सात्त्विक वृत्तिके व्यक्तिका बनाया हुआ हो। वह तृप्त तथा स्वच्छ हो। निर्विकार हो अर्थात् रोगी न हो। वह स्नान कर, शरीरको स्वच्छ कर, स्वच्छ वस्त्र धारण किये रहे और प्रेमपूर्ण मनःस्थितिमें भोजन तैयार करे। माता, पत्नी, बहिनोंके द्वारा बनाये हुए भोजनमें प्रायः ये शुभ वृत्तियाँ मिल जाती हैं।

भोजन स्वच्छ स्थानपर शान्तिपूर्वक प्रसन्न मुद्रासे ग्रहण करे। जो कुछ रूखा-सूखा प्राप्त हुआ है, उसे भगवान्‌का प्रसाद मानकर ग्रहण करें। भोजन जब सामने आये, तब नेत्र मूँदकर ईश्वरका चिंतन करते हुए धीरे-धीरे इस मन्त्रका उच्चारण करे—

तेजोऽसि सहोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामासि विश्वमसि विश्वायुः। (वेद)

अर्थात् हे अन्न! तुम (तेज) वीर्य हो। तुम उत्साह हो। तुम बल हो। तुम दीप्ति हो। तुम ही चराचर विश्वरूप हो। तुम ही विश्वके जीवन हो।

ॐ द्यौस्त्वा परिददातु ॐ पृथिवी गृह्णातु।

अर्थात् हे अन्न! आकाश तुझे देता है और पृथ्वी तुझे ग्रहण करती है।

ॐ अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जा नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।

अर्थात् हे अन्नपते अग्ने! इस यज्ञका भाग हमें दीजिये। यह अन्न (जो हम ग्रहण कर रहे हैं) नीरोग और बलयुक्त हो। हे अन्नपते! हमारे परिवारके लिये और गो आदि पशुओंके लिये बलकारी अन्न दो।

अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।

अर्थात् अन्न ब्रह्म है, रस विष्णु है और भोक्ता महेश्वरदेव हैं।

इस प्रकार मनमें शुभ भाव धारणकर ब्रह्मार्पण करके जो भोजन किया जाता है, वह मनमें शुद्ध, सात्त्विक संस्कार उत्पन्न करता है। ईश्वरत्वके तत्त्वोंका समावेश करनेसे साधारण रूखा-सूखा भोजन भी आश्चर्यजनक शक्ति उत्पन्न करता है। ईश्वरीय वातावरण तथा मनमें सात्त्विक मनोभाव रखनेसे शुद्ध रक्त और पौष्टिक तत्त्व चारों ओर पहुँचता रहता है। यदि ईश्वरीय चिन्तन साथ है तो रूखे-सूखे भोजनमें ही सुख है, आनन्द है और सब कुछ है।

सुखके पीछे दौड़ते हैं। वासनापूर्तिमें उन्हें जीवनका सबसे अधिक रस आता है। उनका जीवन एक छोटे-से दायरेमें बँधा है। उदरके लिये उचित-अनुचित खाद्यकी प्राप्ति तथा वासना-सुखके लिये विपरीत लिंगवाले साथीकी प्राप्ति। इनसे ऊपर उनके निमित्त कुछ नहीं है। अपने-आपका ज्ञान, पुस्तकोंके महान् अनुभव, विज्ञान तथा राजनीतिकी गुत्थियाँ उनके लिये व्यर्थ हैं। वे अपने ही स्वार्थ तथा अहंकारमें डूबते-उतराते जीवनका बहुमूल्य समय समाप्त कर देते हैं। ढेर-के-ढेर बच्चोंको जन्म देकर उन्हें नंगा-भूखा छोड़ स्वर्गवासी हो जाते हैं। वे संसारके थपेड़े खाते, मरते-कटते रहते हैं। उनका यह पशुवत् जीवन ज्यों-का-त्यों व्यतीत होता जाता है। किंतु यह न समझिये कि इन लोगोंको यह जीवन पसंद नहीं। इन्हें यही जीवन सर्वोत्कृष्ट लगता है।

मध्यवर्ग सुखसे दूर

मध्यवर्गके व्यक्ति चिड़ियोंके इस जोड़ेकी तरह सांसारिक हैं। वे विवाहित जीवनमें अविवेकी होकर संतानके भारसे, उनकी छोटी-बड़ी असंख्य आवश्यकताओंकी पूर्तिमें व्यस्त रहते हैं। संतान निरन्तर वृद्धिपर है, जो उन्हें अधिकाधिक संघर्षमें फँसाती जाती है। यह लीजिये, अब भार इतना अधिक हो गया कि ईमानदारीसे पोषण सम्भव नहीं है। महँगाई है, दिखावा करना है, टीप-टाप है; दूसरोंसे बढ़ा-चढ़ाकर शान जमानेकी कामना है। जीभ वशमें नहीं रहती। उसके सुखके लिये प्रातःसे सायंकालतक बीसों तरहकी सुस्वादु वस्तुएँ चाहिये। आइसक्रीम, चाय, शराब, सिगरेट, मांस, बढ़िया मिठाइयाँ, नमकीन, सोडावाटर, चुसकी, कीमती अचार, मुरब्बे चाहिये। स्पर्श-सुखके लिये उन्हें बढ़िया मकान, सुन्दर वेश-भूषा, गद्दे, काउच, सोफासेट चाहिये। घ्राण-सुखके लिये इत्र-फुलेल, सुगन्धित तेल चाहिये। इस प्रकारकी अनेक कृत्रिम आवश्यकताएँ उनके पीछे लगी हैं। अपने बच्चोंकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हैं, तो पत्नीकी फरमाइशें आ जाती हैं। उन्हींको पूर्ण करते-करते जीवनका सब कुछ नष्ट कर

देते हैं। एक-एक पैसेके लिये झूठ-कपट, मिथ्याचारका आश्रय लेते हैं। कुछ व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओंमें इतने बँध गये हैं कि उन्हें उच्च विषयोंपर सोचने-विचारनेके लिये जरा भी अवकाश नहीं है। प्रात:से सायंकालतक बनाव-शृंगारमें ही समय व्यतीत होता है।

हम प्राय: पूछा करते हैं—'क्यों भाई! तुम्हारे पास रुपये, मकान, अच्छा परिवार सब है। तुम सुखी तो हो?' इसका उत्तर हमें कभी संतोषजनक नहीं मिलता। अनेक मित्र ऊँची स्थितिमें होते हुए भी कुछ-न-कुछ आवश्यकताओंको गिना जाते हैं जो अपूर्ण हैं।

जो प्राप्त है, उसीमें सुख ढूँढ़िये

अतृप्तिका एक कारण यह है कि मनुष्य जो-जो वस्तुएँ उनके पास हैं, उनका सुख प्राप्त करना नहीं चाहते। उधरसे बेखबर हैं; या जानते-बूझते आँख मूँदे बैठे हैं। जो उनके पास नहीं है, उसकी प्राप्तिके लिये सिर-पैरका परिश्रम कर रहे हैं। एक सज्जन कहने लगे, 'मित्र! क्या बतायें बैंकके मैनेजर साहबने तो मोटर खरीद ली है, हम ताँगेपर ही फिरते हैं या साइकलसे ही पैर तोड़ते हैं।' इनके पास परमेश्वरका दिया सब कुछ है, पर मोटरकी अतृप्त इच्छा एक आवश्यकता बनकर इनके आन्तरिक मनपर दुष्प्रभाव डाल रही है। इस श्रेणीके असंख्य व्यक्ति हैं, जिनकी कृत्रिम आवश्यकताएँ अपूर्ण बनी हुई हैं।

जीवनका सच्चा रस वह व्यक्ति प्राप्त करता है जो अपने पास रहनेवाली चीजोंका सुख लूटता है। उसका अच्छी चीजके लिये प्रयत्न जारी रहता है, पर उसकी कल्पनामें वह हाथकी चीज नहीं छोड़ता। परमेश्वरने जो दिया है, पहले उसका आनन्द तो ले लिया जाय, फिर आगे बढ़ें।

इन वस्तुओंमें केवल सुखाभास है

जीवनका सुख रुपये-पैसेमें नहीं है। यदि ऐसा होता तो धनी पुरुष ही सुखी होते, पर हम देखते हैं उनका जीवन सबसे अधिक असंतोषसे

परिपूर्ण है। सबसे अधिक धनी व्यक्ति ही सबसे अधिक रोगी, अतृप्त, अस्वस्थ, आन्तरिक दृष्टिकोणसे विक्षुब्ध पाया जाता है। उसे अपने रुपयेकी चिन्ता सदा-सर्वदा लगी रहती है। बड़े-बड़े व्यापारी अपनी साख बनाये रखनेके लिये लाखों रुपये ऋण ले लेते हैं। इनकी आन्तरिक मन:स्थिति सदैव अस्थिर बनी रहती है।

सुख वासनामें नहीं है, क्योंकि क्षणभरमें उसके प्रति अनिच्छा उत्पन्न हो जाती है। एक बार सम्भोगके पश्चात् मनमें जो ग्लानि और पश्चात्ताप होता है, उसे प्रत्येक जानता है। आत्मा बुरी तरह धिक्कारती है। वासनाको वशमें न रखनेसे परिवार बढ़ता है। परिवारका प्रत्येक सदस्य आपपर असंख्य उत्तरदायित्व लेकर आता है। एक बच्चेका बोझ आयुपर्यन्त नहीं कम होता। जितने बच्चे होते हैं, उतने ही टुकड़ोंमें विभक्त होकर आत्मा असंतुष्ट बनी रहती है। यदि कोई बच्चा दुश्चरित्र, पागल या किसी दुर्बलताको लेकर जन्मा तो सदाके लिये सुखकी इतिश्री हो जाती है, अत: इस विषपरिणामी सुखसे सावधान!

सुख बाह्य प्रतिष्ठा, मान, सार्वजनिक इज्जतमें नहीं है। आज लोग आपसे मीठी-मीठी बातें करते हैं, प्रशंसाके पुल बाँध देते हैं। कल आपसे तनिक-सी गलती होते ही वे सब आपको दूधमेंसे मक्खीकी भाँति निकाल फेंकेंगे। स्मरण रखिये, बड़े-से-बड़े नेता, सुधारक, समाजसेवी, उपदेशक या धर्मप्रचारकके अनेक शत्रु होते हैं। अनेक नि:स्वार्थ समाज-सेवी उन्हींके द्वारा मार डाले गये। ईसाको शूली दी गयी; स्वामी दयानन्दजीको काँच खिला दिया गया, गाँधीजीको गोली मार दी गयी। क्या वे आत्मविभूतियाँ सेवाके क्षेत्रमें किसीसे कम थीं? जनताकी मनोवृत्ति सदैव बदलती रहती है। उनकी झूठी प्रशंसासे फूल उठना ही कमजोरी है।

जीवनका स्थायी सुख

सच्चे सुखकी प्राप्ति आन्तरिक तत्त्वोंसे ही सम्भव है। सच्चा सुख मानवके मनकी तृप्ति, संतोष, स्वास्थ्य और प्रफुल्लतामें है। जो व्यक्ति

स्थायी सुखकी प्राप्ति

सुखविषयक प्रमाद

अपने पुस्तकालयकी जिस खिड़कीसे मैं देख रहा हूँ, मुझे अनेक प्रकारके व्यक्ति अपने सुखोंमें लिप्त दृष्टिगोचर हो रहे हैं। बरसातका कुछ पानी एक गड्ढेमें एकत्रित हो गया है, जिसमें एक सूअर गरमीमें लोट रहा है। दिनभर यह विष्ठामें अपना जीवन व्यतीत करता है और दोपहर गंदे कीचड़से भरे इस गड्ढेमें पड़ा-पड़ा सोचा करता है, 'मेरा जीवन कितना सुखी है। पेटभर विष्ठा तथा आलस्यमय जीवनका आनन्द लेनेके लिये यह गंदे कीचड़का गड्ढा।' यह अपने जीवनसे संतुष्ट है।

मेरी पुस्तकोंकी एक आलमारीके ऊपरी आलेमें दो चिड़ियाँ घोंसला बना रही हैं। मैथुनसुखके आवेशमें इन्होंने भावी शिशुके जन्मकी झाँकी देखी है; उसीका प्रायश्चित्त करनेकी यह तैयारी है। घोंसला, फिर अंडे, बच्चे, फिर बच्चोंके लिये भाग-दौड़ कर अन्न-जलका प्रबन्ध, बिल्लीसे बचावके प्रयत्न इत्यादि। क्षणभरके मैथुन-सुखने इन दो अबोध पक्षियोंको एक कभी न कटनेवाली डोरीमें बाँध दिया है। इस बन्धनमें न ये पेटभर भोजन खायेंगे, न अपने स्वास्थ्यका सुख लूटेंगे और न इधर-उधर स्वच्छन्दतापूर्वक उड़ सकेंगे।

बैलोंकी एक जोड़ी अभी-अभी गाड़ीमेंसे खोली जा रही है। बैल थके हुए हैं। लाकर छायामें बाँधे जाते हैं। एक क्षण आराम करते हैं। घास-पूली खाते हैं। इन शान्तिके क्षणोंका उनके लिये कितना अधिक मूल्य है। ये ही इनके सुखकी घड़ियाँ हैं।

इसी प्रकार मानव-जगत्‌का कार्यक्रम है। कुछ व्यक्ति सूअरकी भाँति निम्नतम घृणित जीवन व्यतीत कर रहे हैं। मांस, मदिरा, तम्बाकू, अभक्ष्य पदार्थोंका खूब उपयोग करते हैं। नशेमें चूर होकर वे इन्द्रिय-

वे सिंह-जैसे बल-पौरुष और साहसमय वाहनपर विराजमान हैं। सब पशुओंके राजापर जिस देवीका अधिकार है, उसका उपासक गुप्तरूपसे ये ही सद्गुण एकत्र करेगा। जब-जब वह दुर्गाका चित्र देखेगा, उसके मनमें इन्हींका मानस चित्र उपस्थित होकर उन्नत भावों और गुणोंको चरित्रमें स्थान देगा।

देवी सरस्वतीके चार हाथ हैं अर्थात् उनमें दो व्यक्तियोंका शारीरिक बल है, पर उनके हाथोंमें वीणा संगीतकलाकी अद्भुत शक्ति प्रकट करती है, पुस्तक समस्त ज्ञान-विज्ञान, नीति, धर्म, शास्त्रोंके ज्ञानका प्रतीक है। एक हाथमें माला ज्ञानका धर्मके साथ समन्वय करती है। जो व्यक्ति सरस्वतीका उपासक है, वह वास्तवमें ज्ञान, विज्ञान, कला—विशेषतः साहित्य, कविता, संगीत, वाद्य आदिका उपासक है। सरस्वती प्रकृतिके रमणीय प्रांगणमें विचरण करती हैं। मत्त मयूरों, लहलहाते सर, निर्झर हंस इत्यादि कलात्मक परिस्थितियोंसे उनका निकट सम्पर्क है। वस्तुतः जो व्यक्ति सरस्वतीको अपना आदर्श बनाता है, वह ज्ञान और कलासे अपना साहचर्य प्रकट करता है।

देवी लक्ष्मीके चार हाथ हैं। हाथोंमें कमलका पुष्प, अमित धन, आभूषण, मुद्राएँ, स्वर्ण आदि हैं। दोनों ओर दो हाथी चवँर कर रहे हैं। सुन्दर वस्त्रों तथा अलंकारोंसे वे विभूषित की गयी हैं। उनके चारों ओर ऐश्वर्यका विपुल विमुग्धकारी वातावरण मूर्तिमान् है। लक्ष्मीका गरिमामय चित्र हमारे मानस नेत्रोंके सम्मुख धन-सम्पदा-वैभवकी उपयोगिता तथा हमारी इन वस्तुओंके प्रति चपल लालसा अभिव्यक्त करता है।

भगवान् रामचन्द्रका चित्र मर्यादा, शील, व्यवहार, आचरण, शक्ति, धैर्य, एकपत्नी-व्रत, सात्त्विक प्रेम, कर्तव्य-पालन, शरणागतरक्षा और शान्तिका उज्ज्वल प्रतीक है। उनमें अनन्तशक्तिके साथ धीरता, गम्भीरता और कोमलताकी पूजा है। एक भार्याकी मर्यादाका समाजमें महत्त्व, माधुर्य और सुखके आदर्शकी पूजा है। भरतमें आदर्श

तृप्त है, उसे अपने समीप रहनेवाली सभी वस्तुओंमें रस प्रतीत होगा। उसके पास जितना है, वह अपना सुख उसीमें ढूँढ़ता है। वह दूसरोंके वैभवको देखकर ईर्ष्याकी अग्निमें नहीं जलता, अपनी रूखी-सूखी खाकर संतोषकी साँस लेता है। वह उन्नत भविष्यके लिये निरन्तर प्रयत्नशील है; किंतु दूसरोंकी चीजें देखकर अतृप्त या ईर्ष्यालु नहीं। क्रोधी, लोभी या वासनामय नहीं है। उसे अपनी साधारण वस्तुओंमें, बिना सजे हुए घरमें, बन्धु-बान्धवोंमें, पशु-पक्षीमें ही आनन्द और सुख है। सुख तृप्तिमें है।

सच्चा सुख आपके स्वास्थ्यमें है। आपका स्वास्थ्य ही वह यन्त्र है, जिसके द्वारा आप अपना सुख नापते हैं। जैसा स्वास्थ्य वैसा संसार। रोगीको संसार रोगी, क्रोधीको क्रोधी, वासनामयको संसार वासनासे परिपूर्ण प्रतीत होता है। जितने दिन आपको संसारमें जीवित रहना है, जीवनके जितने श्वास गिनकर आपको दे दिये गये हैं उतना ही लम्बा या छोटा आपका संसार है। मृत्युके पश्चात् आपका रुपया-पैसा, बड़े-बड़े आलीशान मकान, जरी-रेशमके कपड़े या जायदाद किस कामकी हैं? अच्छा स्वास्थ्य ही आपके जीवनका रस है। जो जितने कालतक इसे बनाये रखता है, वह उतने ही कालतक सुखका रसपान करता है। स्वास्थ्य ही सुख है; क्योंकि सुखका अनुभव तो स्वास्थ्यद्वारा ही होता है।

सच्चा सुख प्रफुल्लतामें है। आपको जो मिला खाया, अपना कर्तव्य पालन किया; जो घरमें है, उसीमें संतोष किया और फटे वस्त्रों, पसीनेसे भरे मुख, थकी हुई टाँगोंके बावजूद आपने हँस दिया। आपका चेहरा मृदु-मुसकानसे परिपूर्ण है, आप जिससे मिलते हैं, उसे प्रसन्न कर देते हैं, सर्वत्र हँसी, आशा, उत्साह, जिन्दादिली वितरित करते हैं तो आप सुखी हैं।

ह्यूमने कितनी महत्त्वपूर्ण बात कही है, 'मैं ऐसे प्रसन्न स्वभाव, जो सदैव प्रत्येक वस्तुको अच्छे दृष्टिकोणसे देखनेके आदी हैं—प्राप्त

करना अधिक पसंद करूँगा, बनिस्बत इसके कि दस हजार पौंड वार्षिक आयकी सम्पत्तिका स्वामी बन जाऊँ।' जान लबकका मत है, 'यदि मनुष्योंको प्रफुल्लित रहनेकी शिक्षा और अपने कर्त्तव्यका आनन्द सिखला दिया जाता तो संसार अधिक उज्ज्वल और श्रेष्ठ हो जाता।' कार्लायल कहता है, 'हमें ऐसा आदमी दो जो अपने कार्यको हँसते हुए करता है।' कठिनाइयाँ सभीपर आती हैं, आपत्तियोंसे कौन बचा है? उत्तरदायित्व किसके ऊपर कम है? लेकिन सुखी वे हैं, जो हँसमुख—प्रसन्नचित्त रहते हैं और दूसरोंको भी प्रफुल्लताकी वर्षामें सराबोर कर देते हैं।

सुख आत्माकी शान्तिमें है। यदि आपकी आत्मा नहीं दुखती, आपके दैनिक कार्योंसे संतुष्ट है तो आप आन्तरिक दृष्टिसे सुखी रहेंगे। जो अन्तःकरणकी पुकारके अनुसार आचरण करता चलता है, उसे सुख प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी हत्या करना मानो अपनी हत्या कर लेना है। अन्तःकरणको बलवान् बनानेका साधन यह है कि आप कभी उसकी अवहेलना न करें। अन्तःकरणकी ध्वनिका पालन सबसे बड़ा धर्म और उत्कृष्ट जीवनका मार्ग है। अन्तरात्माको शान्ति दिये बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अन्तरात्मा तभी संतुष्ट रहेगी, जब आपके कर्म पवित्र, न्यायसंगत रहेंगे। झोपड़ीमें पड़े हुए तथा चिथड़ोंसे ढके हुए जीवनमें भी सुख है, यदि अन्तरात्मा संतुष्ट है।

आन्तरिक सुख

तुम्हारा सुख किस व्यक्तिपर निर्भर है? तुम्हारे पिता, भाई, माँ, पत्नी या बाल-बच्चोंपर या अन्य किसी सम्बन्धीपर? आज तुम्हारे पिता तुमसे प्रसन्न हैं तो तुम सुखी हो। कल वे अप्रसन्न होंगे तो तुम्हारे सुखके महल ढह जायँगे। आज तुम्हारी पत्नी प्रसन्न है तो तुम भी हँसते-खेलते हुए सुखका अनुभव करते हो, किंतु कल ही छोटी-सी बातपर उससे अप्रसन्न होनेपर या उसके रूठनेपर तुम महान् क्लेशका अनुभव करोगे। आज तुम्हारा अफसर खुश है तो तुम अपनेको भाग्यशाली समझते हो कल वही नाराज होगा तो तुम नौकरी छोड़ देनेकी बात सोचोगे। आज तुम्हारे बच्चे स्वस्थ हैं, प्रसन्न हैं तो तुम अपने घरमें स्वर्गका सुख समझते हो, कल वे बीमार होंगे तो तुम्हें नरकके दर्शन होंगे। तुम्हारी आत्मा चीत्कार कर उठेगी कि इन वस्तुओंमें सुख नहीं है।

हमारे नाना प्रकारके बन्धन

यदि तुमने अपना सुख सांसारिक पदार्थोंमें मान रखा है—वस्त्र, भोजन, उत्तम मकान, वासना-पूर्तिमें तो तुम्हें इन वस्तुओंके न मिलनेपर घोर निराशा होगी। आज तुम्हारे पास उत्तम वस्त्र है। तुम रेशमी कपड़े पहनकर निकल सकते हो, कल तुम निर्धन होगे तो उत्तम वस्त्रोंका न होना तुम्हारे दुःखका प्रधान कारण बन जायगा। आज तुम्हें चटपटा सुस्वादु भोजन मिलता है, कल महँगाईके कारण तुम उस स्तरका भोजन प्राप्त न कर सकोगे तो तुम्हें क्लेश होगा। आज तुम उत्तम मकानमें आरामसे रहते हो, कल उसके छिन जानेसे तुम कठोर यन्त्रणा सहन करोगे। आज तुम्हारी प्रेमिका पत्नी तुम्हारे पास है, तुम उसके द्वारा वासना-पूर्तिमें सर्वाधिक सुख ढूँढ़ रहे हो, कल उससे वियोग होगा तो संसार शून्य प्रतीत होगा। ये सभी वस्तुएँ अस्थायी और क्षणिक हैं। इनमें निरन्तर परिवर्तन होता है। रुपया आज एकके तो

पदार्थमें नहीं, आन्तरिक जगत्‌के आत्मतत्त्वमें रखा है। सुखका निवासस्थान आन्तरिक है; सुखोंकी जड़ तुम्हारे अंदर है। अपने आन्तरिक जीवनके ऊपर दृष्टि डालो और देखो कि मोहके किन-किन कच्चे सम्बन्धोंने तुमको जकड़ रखा है? किन-किनको मोहके अन्धकारमें तुम अपना समझ रहे हो? किन-किन वस्तुओंमें तुम अपने आत्मतत्त्वको बाँधे हुए हो? न घर, न संतान, न रुपया, न वासना-तृप्ति, कोई भी तुम्हें नहीं बाँध सकता, यदि तुम आत्मभावविकास करो, अपने-आपको आत्मा मानो। आत्मा परमात्माका सर्वोत्कृष्ट अंश है। प्रत्येक कार्य करते हुए यह सोचो कि तुम्हारा अमुक कार्य आत्मा-जैसे महान् तत्त्वके गौरवके अनुरूप है या नहीं?

आपको यह अनुभव करना चाहिये कि आप जितना जड़ जगत्‌के पदार्थोंमें आसक्त होते हैं, उतना ही अधिक परेशान होते हैं। जिन सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये आप रात-दिन रोया करते हैं, उन इच्छित पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी आपको सुख, शान्ति और संतोष नहीं होता। एक पदार्थसे आसक्ति हटी कि अन्य पदार्थोंके प्रति नवीन आकर्षण हो जाता है। कभी मन अमुक प्रकारके भोजन लेना चाहता है, कभी शृगांरकी नयी वस्तु पसंद करता है, कभी किसी स्त्रीमें अनुरक्त होकर तृप्ति चाहता है—इस प्रकार मान-सम्मान, प्रतिष्ठा, धन, जन-कीर्ति आदि वासनाओंसे घिरा रहता है, पर ये सभी त्याज्य हैं।

एक-एक करके कृत्रिम और सच्ची आवश्यकताओंमें विवेक कीजिये और धीरे-धीरे बाहरकी सुखदायक चीजोंको त्यागकर अन्तर्मुख होनेका अभ्यास कीजिये। अपने कृत्रिम बन्धनोंको तोड़ते चलिये। व्यर्थके सम्बन्धोंको त्यागकर स्वतन्त्रताका अनुभव कीजिये। आपकी स्वतन्त्र आत्माको कोई बद्ध नहीं कर सकता। आप अपने जीवनके सम्राट् हैं, स्वतन्त्र हैं।

संकेतद्वारा बन्धन-मुक्ति

जब आप सांसारिक बन्धनोंसे अपने-आपको जकड़ा हुआ अनुभव

कर रहे हों, संसारी उलझनें आपको विक्षुब्ध कर रही हों, तब शान्तचित्त हो नेत्र मूँदकर बैठ जाइये; शरीर और मनको शिथिल कर लीजिये और सब ओरसे मन हटाकर निम्न भावनाको दोहराइये। धीरे-धीरे आत्मविश्वाससे मनमें कहिये, इनपर विश्वास कीजिये। इन्हें अन्तस्तलका एक भाग बना लीजिये। धीरे-धीरे ये भावनाएँ इतनी बलवती हो जायँगी कि आप सदाके लिये बन्धनमुक्त हो जायँगे। कहिये—

'मैं शरीर नहीं, सत्-चित्-आनन्द आत्मा हूँ। मैं जो कुछ सोचता हूँ या करता हूँ, वह आत्मा-जैसे महान् तत्त्वके गौरवके अनुरूप होता है। जब मैं बोलता हूँ तो शुभ वाक्योंका, शुभ भावनाओंका ही उच्चारण करता हूँ, क्योंकि परमेश्वर ही मेरे अन्तःकरणसे बोलता है।'

'मेरे हृदयमें ईश्वरीय संकल्प प्रतिध्वनित होते हैं। मेरा मन सत्य और शिव-संकल्पमय है। ईश्वरका मुझपर प्रेम और आशीर्वाद है। मैं सबके प्रति सत्य, प्रेम और न्यायका व्यवहार करता हूँ।'

'मैं इन्द्रियोंका गुलाम नहीं हूँ; जड़ जगत्‌के पदार्थोंमें आसक्त नहीं होता हूँ। सुप्त-बाह्यस्वरूप, जो मैं अपनेको समझ रहा था, मैं नहीं हूँ। मैं संसारकी विषमताओंसे ऊँचा हूँ। मान-प्रतिष्ठा, रुपया-वासनाको मैंने जीत लिया है। मैं अशान्ति, उद्वेगपर राज्य करता हूँ। सांसारिक आकांक्षाएँ मुझे परतन्त्रताकी ओर नहीं ले जा सकतीं।'

'मुझे कोई नहीं बाँध सकता। मैं सर्वत्र स्वच्छ हूँ, संसारमें केवल अपने कर्तव्यका पालन करता हूँ। मैं शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियको सत्-चित्-आनन्द परम पितामें लीन करूँगा। मुझे रुपयेका मोह, बाल-बच्चोंका एवं पत्नीका मोह, घर-बारका मोह नहीं बाँध सकता। मैं इन सबसे ऊँचा हूँ। मेरा शरीर परमात्माका निवासस्थान है। मैं जो जल पीता हूँ, वह सब ब्रह्मरूप है। ऐसे दिव्य आयोजनके लिये मैं परमात्माको धन्यवाद देता हूँ।'

आत्मोन्नतिका अर्थ

आपके मनमें जो हर्ष, करुणा, विषादकी नाना तरंगें उठती रहती हैं, उनके फलस्वरूप सम्पूर्ण मानस-जगत्‌में एक तूफान-सा उत्पन्न हो जाता है। साधारण व्यक्ति जब क्रोधमें होता है, तब अपने इर्द-गिर्दकी वस्तुओंको तोड़ता-फोड़ता है, बच्चोंको मारता-पीटता है, गालियाँ देता है और तेजीसे इधर-से-उधर टहलता है।

घृणासे भरकर वह दुःखी रहता है। भोजन नहीं कर पाता। जिसके प्रति घृणा उत्पन्न हुई है, उसके साथ नहीं बैठता, बोलता या बातें नहीं करता, यथासम्भव उसके सहवास या संगसे दूर भागता है।

शोकके वशमें होकर वह आठ-आठ आँसू बहाता है, रोता-चिल्लाता है। यह समझता है कि 'अब सब कुछ अन्त हो गया। अब कोई आशा नहीं है। अब जीकर क्या करना है?' कुछ व्यक्ति शोकके आतंकसे इतने प्रभावित हो जाते हैं कि अपनेको बिलकुल ही नहीं सँभाल पाते और आत्महत्या-जैसा जघन्य पाप भी कर बैठते हैं।

साधारण व्यक्ति हर्षके अवसरपर मर्यादासे बाहर हो जाता है। थोड़ा-सा रुपया पा जानेपर वह दूसरोंपर छींटाकसी करते नहीं थकता। बन-ठनकर रहता है, बनाव-शृंगार करता है, मेवा-मिष्ठान्न खाता है, सैर-सपाटे करता है। जीवनकी कठिनाइयोंको विस्तृत कर बैठता है।

उपर्युक्त प्रकारकी साधारण स्तरवाली क्रियाएँ तथा मनोवृत्तियाँ प्रत्येक साधारण व्यक्तियोंमें पायी जाती हैं। मनोविकार उसे खूब नाच नचाते हैं। कभी वह हँसता है तो कभी आँसू बहाता है। कभी वह अपने ऐश्वर्यमें पागल रहता है तो कभी अपने धन-जनकी हानिसे इतना उद्विग्न हो जाता है कि उसे अपना आगा-पीछा ही कुछ नहीं सूझता।

आत्मोन्नतिका यह अर्थ है कि मनुष्य इन दैनिक जीवनकी नित्य-प्रति घटनेवाली सुख-दुःख, हर्ष-विषादकी भावनाओंके ऊपर उठे अर्थात् इनके वशमें आनेके स्थानपर अपनी आत्मिक दृढ़ता, साहस और

है। उसे अब प्रतीत होने लगता है कि विश्वमें जो कुछ भी है, उसका स्वामी परमात्मा है, सबमें प्रभुका निवास है (**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**) इसलिये वह त्यागपूर्वक भोग करता है, जिसको यह दृष्टि प्राप्त हो गयी है, वह धन्य है। सबको भगवन्मय देखनेका शुभ परिणाम होता है—त्यागमय जीवन। परिग्रह अथवा संग्रहकी बुद्धि भगवद्भक्तमें नहीं हो सकती। त्यागको पीछे रखकर भोगमय जीवन आसुरी प्रवृत्ति है, जब कि भोगको गौण बनाकर त्यागको प्रमुखता देना दैवी-सम्पत्ति है। यही आत्मोन्नतिका अर्थ है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१६। २१) में कहा है, 'नरकके तीन द्वार हैं— काम, क्रोध और लोभ।' आत्म-कल्याणके इच्छुकको चाहिये कि वह इन तीनोंसे सावधान रहे, अन्यथा वह नरकमें पहुँचेगा।

'संसारमें पुरुषरूपमें जीवन बितानेवाले हे जीव! तू सदैव उन्नतिकी ओर बढ़। कोई ऐसा कार्य न कर जिससे तू नीचे गिरे तथा तुझे दुःख या संताप हो। अपने जीवनको मृत्युसे मुक्त करता हुआ अर्थात् दीर्घजीवनके लिये प्रयत्न करता और इस संसारमें अग्नि तथा सूर्यकी शक्तियोंका उपयोग करता हुआ जीवन-संग्राममें विजय प्राप्त कर।'

उपर्युक्त वेदमन्त्रमें भावात्मक तथा क्रियात्मक दोनों प्रकारके कार्योंका वर्णन किया गया है। मनुष्य-जीवनका लक्ष्य क्या हो, इसकी ओर भी संकेत किया गया है। अतः आप जहाँतक पहुँच चुके हैं, वहाँसे उठने और आगे बढ़नेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।
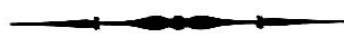
सन्तोषामृत पिया करें

को वा दरिद्रो? हि विशालतृष्णः।
श्रीमांस्तु को? यस्तु समस्ततोषः॥

अर्थात् गरीब कौन है? जिसकी तृष्णा बड़ी है। अमीर कौन है? जो सदा संतुष्ट रहता है। भगवान्‌के दिये धनसे जिसे संतोष नहीं होता वह मनका दरिद्र है और यही दुःखदायिनी दरिद्रता है।

टाल्सटायकी एक कहानी है। एक लोभी व्यक्ति एक ऐसे राज्यमें पहुँचा, जहाँ कुछ रुपया देकर व्यक्ति यथेष्ट भूमि प्राप्त कर सकता था। प्रातःकालसे हल-बैल लेकर उसे एक स्थानसे प्रारम्भ कर भूमिका चक्कर लगाना पड़ता था। सायंकालतक वह जितना बड़ा चक्र बना पाता था, भूमिका वही घेरा उसे दे दिया जाता था। फीस सबके लिये एक ही थी। वह व्यक्ति वहाँ पहुँचा और फीस देकर उसने भूमिका घेरा नापना प्रारम्भ किया। बड़ा घेरा बनानेके लोभमें वह चलता रहा। सायंकाल होते-होते वह इतना तेज चला कि घेरा पूर्ण करनेसे पहले ही गिरा और तुरन्त मर गया। इस कहानीका शीर्षक है 'मनुष्यको कितनी भूमिकी आवश्यकता है? अन्ततः वह व्यक्ति जितनी भूमिमें गाड़ा गया, उतनी ही भूमि उसे मिल सकी। वह बड़ा भूमिका घेरा व्यर्थ गया।' कहानीका तात्पर्य यह है कि मनुष्य वृथा ही इतनी वस्तुओंकी तृष्णा करता है। अन्ततः वही उसकी मृत्युका कारण बनती है। विधिका बनाया हुआ एक निश्चित क्रम है। धन, भूमि, मकान, सम्पत्ति तथा नाना वस्तुओंके देनेकी एक सीमा है। भगवान् प्रत्येक व्यक्तिका ध्यान रख उसके निर्वाह और सुखके लिये पर्याप्त सुख-सुविधाएँ प्रदान करते हैं, किसीको कभी नहीं भूलते, निरन्तर देते रहते हैं, पर भगवान्‌के दिये धन, सुख-सुविधाओंसे जिसे संतोष नहीं होता, उसकी बड़ी दुर्दशा होती है, तृष्णा-पिशाचिनी उसे निगल लेती है।

ईश्वरके संसारमें कभी भी मर्यादाके भीतर रहकर खाने-पीने-पहनने-ओढ़ने, शरीरकी नाना प्राकृतिक इच्छाओंकी पूर्तिके सभी साधन प्रचुरतासे हैं। किसीको किसी वस्तुकी कमी नहीं है। जीवनकी आधारभूत चीजें विपुलतासे बिखरी पड़ी हैं। जितना जिस-जिसके हिस्सेमें है, जितना जिसके भाग्यमें है, वह उसे देर-सबेर अवश्य प्राप्त होकर रहता है। कोई किसीके भाग्यके धन, संतान, सम्पत्ति, भूमि, ऐश्वर्य, मान, समृद्धिको उससे नहीं छीन सकता। शर्त यही है कि हम अपना कर्म करते रहें, परिश्रममें लापरवाही न करें; आलसी न बनें, मुफ्तका धन लूटनेकी चेष्टा न करें। जो काम हमें सौंपा गया है, कर्तव्य मानकर कठिन परिश्रम और सहयोगसे उसे पूरा करते रहें। अपना पेट भर लेनेके पश्चात् बचा हुआ धन या वस्तुएँ ईश्वरकी हैं, हमारी व्यक्तिगत पूँजी नहीं हैं, उन्हें समाजके अन्य जरूरतमन्द व्यक्तियोंको दे देने (दान करने) में ही कल्याण है। आवश्यकतासे अधिक धन इत्यादि रखकर दूसरोंका शोषण करनेवाले मोक्षका सुख प्राप्त नहीं करते। तृष्णाके माया-जालमें अशान्त पड़े रहते हैं।

संसारकी विषय-वासनामें लिप्त व्यक्तिके दुःखोंका अन्त नहीं होता। एक आवश्यकता पूर्तिके बाद दूसरी; फिर तीसरी, चौथी अनन्त तृष्णाएँ, हजारों छोटी-बड़ी, अच्छी-बुरी इच्छाएँ उसके शान्ति-सुख और संतुलनको भंग करती रहती हैं। इन्द्रियोंको कभी संतोष नहीं मिलता। वासना कभी तृप्त नहीं होती। आसक्ति ही दुःखका मूल है।

संग्रहसे त्याग ही श्रेष्ठ है। संग्रहसे आसक्ति बढ़ती है। जीव संसारके माया-मोहमें और भी जटिलतासे बँधता जाता है। पद्मपुराणमें एक स्थानपर कहा गया है—

तपस्सञ्चय एवेह विशिष्टो धनसञ्चयात्।
त्यजतः सञ्चयान् सर्वान् यान्ति नाशमुपद्रवाः॥
न हि सञ्चयनात् कश्चित् सुखी भवति मानवः।
यथा यथा न गृह्णाति ब्राह्मणः सम्प्रतिग्रहम्॥

तथा तथा हि संतोषाद् ब्रह्मतेजो विवर्धते।
अकिञ्चनत्वं राज्यं च तुलया समतोलयत्।
अकिञ्चनत्वमधिकं राज्यादपि जितात्मनः॥

अर्थात्—इस लोकमें धन-संचयकी अपेक्षा तपस्याका संचय ही श्रेष्ठ है। जो व्यक्ति सब प्रकारके लौकिक संग्रहोंका परित्याग कर देता है, उसके सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं। संग्रह करनेवाला कोई भी मनुष्य सुखी नहीं रह सकता। ब्राह्मण जैसे-जैसे प्रतिग्रहका त्याग कर देता है, वैसे-ही-वैसे संतोषके कारण उसके ब्रह्मतेजकी वृद्धि होती है। एक ओर अकिंचनताको और दूसरी ओर राज्यको तराजूमें रखकर तौला गया तो राज्यकी अपेक्षा जितात्मा पुरुषकी अकिंचनताका पलड़ा भारी रहा।

सबसे अधिक लोभ मनुष्यको धनका होता है। जितना धन प्राप्त होता है, उतनी ही तृष्णा बढ़ती जाती है। सौसे हजार, हजारसे दस हजार, लाख, दस लाख, करोड़, अरब निरन्तर धनकी इच्छा अधिकाधिक बढ़ती जाती है। मनुष्य यह भूल जाता है कि धन एक साधन है स्वयं साध्य नहीं है। धनसे मनुष्यकी सात्त्विक आधार-भूमिकी आवश्यकताएँ पूर्ण होनी चाहिये। बचे हुए धनको दानद्वारा दूसरे अभावग्रस्त व्यक्तियोंमें फैलाना चाहिये। यदि मर्यादासे बाहर जाकर कोई कृपण केवल धनका संग्रह ही कर्तव्य मान बैठता है तो वह बड़ी भारी मूर्खता करता है। स्कन्दपुराणमें कृपण धनीको पानीमें डुबा देनेका उल्लेख इस प्रकार है—

धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्।
उभावम्भसि मोक्तव्यौ गले बद्ध्वा दृढशिलाम्॥

अर्थात्—जो धनवान् होकर दान नहीं करता और दरिद्र होकर कष्ट-सहनरूप तपसे दूर भागता है, इन दोनोंके गलेमें बड़ा भारी पत्थर बाँधकर जलमें छोड़ देना चाहिये।

ऋषिकुमार नचिकेताने सत्य ही कहा है कि मनुष्य धनसे कभी भी

बढ़ानेमें कारण होता है वैसे ही दुष्टका धन उसकी दुष्टताको बढ़ा देता है। वासनाके मदमें अन्धा हुआ व्यक्ति देखता हुआ भी अन्धा ही रहता है। विषय-वासनाकी बढ़ती हुई इच्छाएँ प्रत्यक्ष विषके समान हैं।

इसी प्रकार सम्पत्ति एकत्रित करनेकी इच्छा भी उत्तरोत्तर बढ़ती है। एक मकानके पश्चात् दूसरा, फिर तीसरा, चौथा यहाँतक कि बड़े-बड़े महलोंके स्वामी भी नाना प्रकारकी नयी इच्छाओंके दास होते हैं। सम्पत्तिको बढ़ानेकी इच्छाका कभी अन्त नहीं होता। इसी प्रकार संतानकी इच्छा भी कभी पूर्ण नहीं होती। इच्छाओंका बड़ी संख्यामें उत्पन्न होना ही मनुष्यके दुःखका कारण है, हमारी अपूर्णताका सूचक है। उच्चतम स्थितिपर पहुँचनेके लिये हमें इच्छाओंका दमन करते रहना चाहिये। उनमें आसक्ति कम करनेसे वृत्ति अन्तर्मुखी होती है।

हमें यह भलीभाँति स्मरण रखना चाहिये कि संसारमें कभी किसीकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई है। तृष्णा बढ़ती ही रही है। ईश्वरने अपने परिश्रमकी जो रोटियाँ हमें दी हैं, वही हम ईमानदारीसे लेते रहें, सदा अपनी मेहनतकी कमाईपर निर्भर रहें, यही श्रेष्ठ सुख-शान्तिका साधन है, आसक्तिका त्याग कर, क्रोधको जीतकर, स्वल्पाहारी और जितेन्द्रिय होकर बुद्धिसे इन्द्रियोंको रोककर ही हम आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति॥
चक्षुःश्रोत्राणि जीर्यन्ति तृष्णैका तरुणायते।

अर्थात् जब मनुष्यका शरीर जीर्ण होता है, तब उसके बाल पक जाते हैं और दाँत उखड़ जाते हैं, पर यह तृष्णा ऐसी दुष्टा है कि सदैव तरुणी बनी रहती है।

जो कुछ ईश्वरकी देनके रूपमें आपके पास है, उसे मर्यादाके भीतर रहकर भोगें और संतोषामृत पान करते रहें!

प्राप्तका आदर करना सीखिये

संसारमें दूरीमें आकर्षण है। जो वस्तु समीप है, खुद हम जिसके मालिक हैं, जिसपर हमारा स्वत्व है, हम उसके प्रति न दिलचस्पी लेते हैं, न उसकी सुन्दरता, महत्त्व, लाभ और उपयोगिताको ही समझते हैं। मानव-जगत्‌की अतृप्तिका यह एक बड़ा कारण है।

जो वस्तु हमारे पास रहती है, हम उससे इतना अधिक परिचित हो जाते हैं कि उसकी उपयोगिता हमारे लिये कुछ अर्थ नहीं रखती। घरमें जो व्यक्ति हैं उनसे हमारा काम आसानीसे चलता है। हमारी वृद्धा माँ, वृद्ध पिता, बड़े भाई-बहिन इत्यादिके निकट निरन्तर रहते रहनेके कारण हम उनका महत्त्व दृष्टिगत नहीं करते। पुराने कुटुम्बोंमें जो नयी रोशनीके युवक-युवती हैं, वे वृद्ध पितामहोंका आदर-सत्कार, सेवा इत्यादि करनेमें अपनी प्रतिष्ठाकी हानि समझते हैं। इसका कारण यही है कि हम प्राप्तका अनादर करते हैं।

महाजन रुपया उधार देता है, उसकी दृष्टिमें मूलधनका इतना महत्त्व नहीं है जितना कि सूदका है। उसके पास रुपयेकी कमी नहीं है। यदि वह चाहे तो उसी रुपयेका आदर कर (अर्थात् सदुपयोग कर) जीवनपर्यन्त सुखी रह सकता है, किंतु उसका लोभ उसके मार्गमें बाधा उपस्थित करता है। वह सूदको वसूल करनेके लिये जमीन-आसमान सिरपर उठा लेता है, मुकदमेबाजीमें फँसता है; वर्षों अदालतमें खड़ा रहकर समय व्यर्थ नष्ट करता है। यदि मुकदमा सफल रहा तो उसे कुर्कीद्वारा मूलधन सूदसहित प्राप्त होता है। अनेक बार कर्ज लेनेवालोंका दिवाला निकल जाता है और सूदके प्रलोभनमें मूलधन भी जाता रहता है। यदि वह व्यक्ति जो प्राप्त है, उसीका समुचित आदर करता तो क्यों अपना मूलधन भी व्यर्थ गँवाता?

लोग स्वयं यह नहीं देखते कि वास्तवमें उन्हें कितनी सौभाग्यशील प्रसन्नता प्रदान करनेवाली सुख-समृद्धि तथा मोदमयी वस्तुएँ प्राप्त हैं।

यदि विवेकपूर्ण नेत्रोंसे देखा जाय, तो आपको विदित होगा कि आपके गरीब घरमें निर्धनता, प्रतिकूलता और संघर्षके वातावरणमें भी महाकृपालु प्रभुने आनन्द प्रदान करनेवाली अनेक वस्तुएँ प्रदान की हैं। अन्तर केवल यह है कि आपके स्थूल नेत्र उनके सौन्दर्य और उपयोगिताका अवलोकन नहीं करते।

आपको कौन-कौन वस्तुएँ प्राप्त हैं? क्या आपके पास उत्तम स्वास्थ्य है? यदि अच्छा स्वास्थ्य है तो आपको संसारकी एक महान् विभूति प्राप्त है, जिसके सामने संसारका समस्त स्वर्ण, बेशकीमती मूँगे, मोती, हीरे, जवाहिरात, दौलत इत्यादि फीके हैं। वास्तवमें संसारका अस्तित्व ही आपके स्वास्थ्यपर है। आपको जो स्वास्थ्यरूपी सम्पदा प्राप्त है, उसका आदर कीजिये। अपनी पाँचों इन्द्रियों—स्वाद, घ्राण, श्रवण, स्पर्श, दर्शन—इत्यादिके अनेक आनन्दोंका निर्दोष सुख लूटिये। विश्वमें ऐसे सैकड़ों सुख एवं आनन्द हैं, जिनका आधार उत्तम स्वास्थ्य है। जब यह आपको प्राप्त है, तब इसके द्वारा रसपान करना, जीवनमें आनन्द उठाना आपकी बुद्धिपर निर्भर है। बुद्धिके सदुपयोगसे स्वास्थ्यके आधारपर रहनेवाले अनेक सुखोंको प्राप्त कर जीवनको सुख-शान्तिमय बनाया जा सकता है। लम्बी सैरको जाइये, फूलोंसे परिपूर्ण उद्यानमें टहलिये, नदियोंमें स्वच्छन्दतासे तैरिये, खेलिये-कूदिये, आप बिना किसी रुपये-पैसेके आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। स्वास्थ्य, बल, शक्ति, स्वाभाविक सौन्दर्य जो आपको प्राप्त है, उसके आनन्द आपकी पहुँचके भीतर हैं। उन्हें प्राप्त कीजिये।

यदि आपके पास बहुमूल्य कीमती वस्त्र, आभूषण, सुसज्जित मकान इत्यादि नहीं हैं, तो दुःखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। जैसे वस्त्र हैं, उन्हींको स्वच्छ निर्मल रखकर सादगीसे आप अपनी विशेषताएँ प्रदर्शित कर सकते हैं। वस्त्रोंके विषयमें अपनी रुचि सरल बना लीजिये। इस बातके लिये व्यर्थ क्यों दुःखी होते हैं कि आप छैल-छबीलोंकी तरह सजे-बजे नहीं हैं? जो व्यक्ति अत्यधिक बनाव-

शृंगारमें निमग्न रहते हैं, वे प्राय: मिथ्याभिमानी, छिछोरे, अल्पबुद्धि हैं; कपड़ोंके मायाजालमें झूठा सौन्दर्य लानेकी चेष्टा करते हैं। केवल कुरूप व्यक्तियोंको ही यह विश्वास होता है कि वस्त्रोंद्वारा उनकी कुरूपता छिप जायगी। बहुव्यय, कृत्रिमता और बनावटी बनाव-शृंगारकी बातोंके लिये अशान्त रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आपके पास जो जैसा अच्छा-बुरा है, उसीका सदुपयोग करना प्रारम्भ कर दीजिये। अपने साधारण वस्त्रोंको अच्छी तरह स्वच्छ कीजिये; यदि मैले हो गये हैं तो साबुन मोल लेकर उन्हें धो डालिये, इस्तरी कर लीजिये। यदि बाल कटानेके लिये पैसे नहीं हैं तो उन्हींको धोकर ठीक तरह सँवार लीजिये। खद्दरके सस्ते, स्वच्छ और चलाऊ वस्त्रोंमें व्यक्ति बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है। आवश्यकता है शऊर और शिष्टाचारकी। स्त्रियाँ प्राय: दूकानोंपर नयी-नयी साड़ियाँ, जम्परके कपड़े, नयी डिजाइनोंके आभूषण देखकर अतृप्त-अशान्त हो जाती हैं। घरमें कलह उत्पन्न हो जाती है। पतिके पास आर्थिक संकट होता है तो वह बेचारा इस गृह-कलहको दूर करनेके निमित्त ऋण लेनेको बाध्य होता है। यह बड़ी मूर्खता है। स्त्रियोंको यह देखना चाहिये कि उन्हें प्राप्त कितना है? कितने कपड़े उनके ट्रंकोंमें भरे पड़े हैं? फैशन कितनी द्रुतगतिसे परिवर्तित होते हैं? यदि हर वर्ष पुराने स्वर्ण-आभूषणोंको तुड़ाकर नवीन रूपसे उनका पुनर्निर्माण कराया जायगा तो असली सोना क्या खाक अवशेष बचेगा? यदि वे प्राप्तका समुचित आदर करना सीख जायँ और अपनी जो साधारण-सी वस्तुएँ हैं, उन्हींकी सहायतासे अपनी प्रतिभा, योग्यता और विशेषताएँ प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दें; तो सहज ही सुख-शान्तिमय जीवन व्यतीत कर सकती हैं।

ज्ञानके नेत्र

गोस्वामी तुलसीदासजी अपनी पत्नीसे बड़ा प्रेम करते थे। दिनभर उससे वार्तालाप और साहचर्य करनेपर भी उनकी उस नारीके प्रति बड़ी आसक्ति थी। नारी-सुखके अतिरिक्त उन्हें अन्य किसी सुखकी इच्छा न थी। वे शरीरको सुख भोगनेका ही प्रधान साधन मानते थे। वासना तथा इन्द्रियोंके माया-जालने उन्हें बाँध रखा था। जितना ही वे इन्द्रिय-सुखके इस मार्गपर बढ़ते गये, उतनी ही उन्हें इसकी आवश्यकता अधिकाधिक प्रतीत होती गयी। आसक्ति उनकी प्रधान संगिनी थी।

एक दिन उसी नारीने उनके ज्ञानके नेत्र खोल दिये। उसने कहा—'मेरे इस हाड़-मांसके नश्वर शरीरके प्रति जो मोह आपको है, यदि वही कहीं ईश्वरके प्रति होता तो आपकी मुक्ति हो जाती।'

तुलसीदास देरतक उपर्युक्त कथनको सोचते रहे। चिन्तन करते रहे। चिन्तन करते-करते वे अन्तमें इस परिणामपर पहुँचे कि वास्तवमें नारीका कथन सत्य है। आसक्तिसे बढ़कर संसारमें कोई दूसरा दुःख नहीं है। इन्द्रियोंके विषयोंमें फँसे रहनेसे मनुष्य दुःखी रहता है।

उनके ज्ञानके नेत्र खुल गये। अब दूसरा ही दृश्य था। उन्होंने देखा, संसार भोगोंकी ओर तीव्रतासे दौड़ रहा है। तृष्णाकी पीड़ा उनके दुःखोंका बड़ा भारी कारण है। वासना मनुष्यको पागल बना रही है। मनुष्य मनसे ही संसारसे बँधता है।

वे संसारसे विरक्त हो गये। नारीके प्रति उनका प्रेम अपने आराध्य रामके प्रति मुड़ गया। अब वे वासना-तृप्तिके पीछे न भाग रामकी लीलाएँ कवितामें गाने लगे। उन्होंने भक्ति-रसकी अजस्र धारा संसारमें प्रवाहित की और शान्तिका सुधा-संदेश दिया।

भक्त सूरदासका भी कुछ ऐसा ही अनुभव रहा। वे भी रमणीके अनुरागमें फँसे रहे। नारी सुन्दर थी, अतीव सुन्दर और आकर्षक। उससे तिरस्कृत और अपमानित होकर उन्हें प्रतीत हुआ कि संसारके

भोगोंमें वास्तवमें स्थायी सुख नहीं, सुखाभास है। मनुष्य उन्हींके प्रति आसक्त होकर इधर-उधर भागता है। इन्द्रियाँ उसे मायाजालमें डालती हैं। सूरको अपने प्रति किये गये अपमानके प्रति बड़ी आत्मग्लानि हुई। उन्होंने उस नारीसे तो बेलके तीखे काँटे लानेको कहा। जब वे काँटे आ गये तो शरीरके नेत्रोंमें ठूँस दिये। सूरके पार्थिव नेत्र बंद हो गये। पर इस तिरस्कारसे ज्ञानके नेत्र खुल गये। उनका अनुभव था **"तैः (इन्द्रियैः) एव नियतैः सुखी"** इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेसे ही मानव सुखी हो सकता है।

भक्त मीराबाईके ज्ञानके नेत्र इतनी जल्दी खुले थे कि उन्हें अपने विवाह तथा दाम्पत्यजीवनके प्रति कुछ भी मोह न हुआ। उनके सम्मुख नाना प्रकारके प्रलोभन और भयंकर यातनाएँ आयीं, किंतु वे सभीको ज्ञानके नेत्रोंसे निरखती रहीं। सांसारिकताके असत्य व्यवहारको त्यागकर उन्होंने भक्तिका वह मार्ग अपनाया जो मुक्ति देनेवाला था। उन्हें ज्ञानके नेत्रोंसे यह दिखायी दिया कि कुविचार और कुकर्म ही दुःख और अतृप्तिका मूल है।

मानसिक पापोंका परित्याग करो। मनकी जमी हुई वासना ही दुष्कर्म कराती है। पापका प्रधान कारण आत्मज्ञानका अभाव ही है। हम प्रायः मोह और आलस्यकी निद्रामें पड़े रहते हैं। आलस्यमें पड़े हुए हमें सुख मिलता तो दिखायी देता है, परंतु उसका फल हमेशा दुःख होता है। हमें अपनी कमजोरियोंका ज्ञान नहीं होता। जो आदमी गलती करता है, उस अल्पज्ञको यह ज्ञात नहीं होता कि वह गलत राहपर है। अन्धकार-ही-अन्धकारमें वह न जाने कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाता है। अन्तमें किसी कठोर भावशिलापर टकराकर उसे अपनी गलती या दुर्बलताका ज्ञान होता है। उसके ज्ञानचक्षु एकाएक खुल जाते हैं। यहींसे वास्तविक आत्मिक उन्नतिका सुप्रभात प्रारम्भ होता है।

ज्ञानके नेत्र हमें अपनी दुर्बलतासे परिचित कराने आते हैं। जबतक

इन्द्रियोंमें सुख दीखता है, तबतक आँखोंपर पर्दा पड़ा हुआ मानना चाहिये।

जो अपनी दुर्बलतासे परिचित हो जाता है, उसके लिये वह सच्चा पश्चात्ताप कर उसे दूर करनेकी इच्छा और सतत उद्योग प्रारम्भ करता है। उसकी उन्नतिका आधा काम तो बन गया मानना चाहिये।

दुर्बलता ही पापका मूल है। इसका कारण अज्ञान है। जब ज्ञानके नेत्र खुलते हैं, तब मनुष्यको अपनी दुर्बलताके दर्शन हो जाते हैं। यजुर्वेदका वचन है—

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना। (यजु० ३२)

'जिसका अज्ञान दूर होगा वही पापसे छूटेगा। पापका प्रधान कारण आत्मज्ञानका अभाव है।'

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि। (यजु० १। ५)

'असत्यको त्यागकर सत्य ही ग्रहण करना चाहिये। जो सत्यको त्यागकर असत्य अपनाते हैं, उन्हें अपयश ही मिलता है।'

ज्ञानके नेत्रोंके प्रकाशमें हम उन विचारोंको त्याग देते हैं, जो आत्माको कष्ट देनेवाले हैं, धर्मके शत्रु हैं या अशान्ति उत्पन्न करनेवाले हैं। शक्तियोंका मूल स्रोत आत्मा है। दुर्बलताका ज्ञान सच्ची आत्मग्लानि, फिर उस दुर्बलताको हटानेकी सच्ची साधना—यही हमारी उन्नतिके सूत्र हैं। जब मन गलत राहसे हटकर सन्मार्गपर आरूढ़ हो जाता है, तभी आध्यात्मिक सिद्धियाँ मिलनी प्रारम्भ हो जाती हैं।

वेदोंमें ऐसे अनेक अमूल्य ज्ञान-कण बिखरे पड़े हैं, जिनमें गलत राहसे हटाकर मनको कल्याणकारी मार्गपर चलनेके लिये प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

न भद्रं नो अपिवातय मनः। (ऋग्० १०। २८। १)

'हे परमात्मन्! मेरे मनको कल्याणकी ओर ले चलो।'

असंतापं मे हृदयम्। (अथर्व० १६३। ६)

'हे परमात्मन्! मेरा हृदय संतापसे हीन होता चले अर्थात् अपनी

दुर्बलताओंके दर्शन कर मेरे मनमें जो आत्मग्लानि उत्पन्न हो वह सत्कर्म और शुभ विचारद्वारा दूर होती चले।'

वि नो राये दुरो वृधि। (ऋग्० ९। ४५। ३)

'हे प्रभो! ऐश्वर्यके लिये हमारे आन्तरिक मनके द्वार खोल दो। (अर्थात् हमें निकृष्ट विचारोंसे मुक्त कर दो और दैवी एकता, विपुलता, आत्मकल्याणके विचारोंसे परिपूर्ण कर दो।)'

स्वामी दयानन्दजीने 'सत्यार्थप्रकाश' में एक स्थानपर लिखा है, 'सज्जनों और उन्नति करनेवालोंकी यह रीति है कि वे गुणोंको ग्रहण कर दोषोंका परित्याग सदा करते रहते हैं।'

कद व ऋतं कदनृतं क्व प्रत्ना। (ऋग्० १। १०५। ५)

'क्या उचित है या अनुचित, यह निरन्तर विचारते रहो। विवेक और आत्माके आदेशका आश्रय ग्रहण करो।
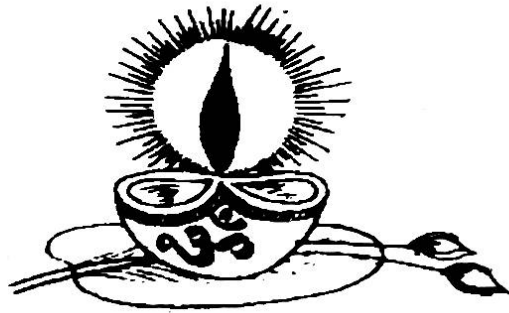
शान्तिकी गोदमें

मनुष्य चाहता है कि किसी प्रकार संतुष्ट होकर शान्ति-जैसी दैवीसम्पदाका सुख प्राप्त करे। पर शान्ति, शान्ति चिल्लाती हुई यह मायावी प्रगति वास्तवमें हमें शान्तिसे बहुत दूर ले जा रही है। हम प्राचीनकालमें अधिक शान्त एवं प्रसन्न थे। यदि हमारी प्रगति इसी प्रकार होती रही तो शान्ति सदाके लिये हमसे विलग हो जायगी!

आज सर्वत्र शान्ति-शान्तिकी व्यापक पुकार सुनायी पड़ती है। राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक सभी क्षेत्रोंमें उथल-पुथल है। प्रत्येक व्यक्ति यह समझता है कि आधुनिक भौतिकवादसे कुछ होने-जानेवाला नहीं है, तब भी उसीको अपनाये हुए है। यह बात नहीं कि अशान्तिका कारण अर्थकी कमी हो। जनताके पास यथेष्ट मात्रामें धन है, किंतु फिर भी अतृप्ति, आन्तरिक विक्षोभ, मानसिक कष्टोंकी संख्या अभिवृद्धिपर है। इसका कारण क्या है?

हमारे सिद्धान्तकी निर्बलता ही इस अशान्तिका कारण हो सकती है। भोगवाद—खाओ-पीओ, मौज उड़ाओ! यह आजके सभ्य व्यक्तिका सिद्धान्त बन गया है। वह अधिक-से-अधिक सांसारिक सुख चाहता है। उसके सुखोंका प्रारम्भ होता है तृष्णासे। इस वस्तुको प्राप्त कर लूँ, उसका मजा लूँ, खाने-पीनेके पश्चात् वासनाके सुख वह लूटता है। उनकी पराकाष्ठा कर बैठता है, किंतु रुपया, जायदाद, पुत्र, पुत्री, मान-बड़ाईके बावजूद उसे प्रतीत होता है कि उसके अंदर कुछ खोया-खोया-सा है। कुछ स्थान खाली-खाली-सा है। इस खालीपनसे ही वह जगत्से वैराग्य स्थापित करता है।

सांसारिक भोग-पदार्थोंके ऊपर जो उच्च आध्यात्मिक जीवन है, जिसमें भोगवाद छूटकर त्यागकी महत्ता है; अपने सुखके स्थानपर दूसरेको सुखी करने, लेनेके स्थानपर देनेकी भावना है—वह आदर्श इस खोखलेपनको दूर करनेका एक उपाय है।

मनुष्य जब एकत्रित करनेके स्थानपर अपनी चीजोंको दूसरोंके सहायतार्थ प्रेमसे, सहयोगपूर्वक वितरण करनेकी सोचता है, तब वह शान्तिकी ओर एक कदम बढ़ाता है। धन, वस्तुएँ, जायदाद, भोग्य वस्तुएँ एकत्रित करनेसे उनके प्रति मोहकी उत्पत्ति होती है। यह मोह उन वस्तुओंसे इतना जकड़ देता है कि उस मोह-पाशसे पृथक् नहीं हो सकता। उस मोहके कारण उसे उन एकत्रित चीजोंमेंसे कोई भी कम होने या विनष्ट होनेसे दुःख होता है। अतः मोह बन्धन है।

जो मनुष्य स्वार्थसे छुटकारा पा गया है, वह शान्त है, वह प्रसन्नचित्त है और संसारको त्याग देनेमें किसी प्रकारके दुःखका अनुभव नहीं करता। दुःख अथवा थकावटका मुख्य कारण अपने-आपको सांसारिक जंजालसे बाँध लेना है। बाँधनेके स्थानपर उससे मुक्त रहना, सांसारिक चीजोंमें लिप्त न होना, उन्हें त्यागकर दैवी सम्पत्तिमें विश्वास रखना, उसीमें अपने सुखोंकी जड़ मानना—शान्तिकी गोदमें जाना है।

ईश्वरीय आदेश यह है कि हम खुले रहें, मोहके बन्धनसे मुक्त रहें। उच्च आध्यात्मिक सत्तामें रमण करनेसे इस शरीरको त्यागनेमें कुछ दुःखका अनुभव नहीं होता। आपकी भावना यह होनी चाहिये—

'मेरा कुछ नहीं है। मेरा संसारके घर-बार, बच्चे, जमीन-जायदादसे कुछ सरोकार नहीं है। यह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं भोगवादी नहीं हूँ। मैं संसारके विकारोंमें रमण करनेवाला कीड़ा नहीं हूँ। मेरे अन्दर स्वार्थपरता और मनोविकारोंका बन्धन नहीं है। मैं संसारकी अनित्य—अस्थिर चीजोंसे अपने-आपको नहीं जकड़ता हूँ।'

जहाँ सांसारिक चीजोंसे बँधे रहनेकी भावना है, वहीं दुःख और क्लेश है। जहाँ उनसे ऊपर आध्यात्मिक सत्तामें रहनेकी भावना है, वहीं मोक्ष है। सर्वदा मृत्युके लिये तैयार रहो। इससे जीवन और मृत्यु दोनों सुखद हो जायँगे।

शान्ति आन्तरिक है

जो भीतरसे शान्त है, स्वच्छ है और संतुष्ट है, वह बाहरसे अशान्त, अस्वच्छ और असंतुष्ट हो ही नहीं सकता। जो हमारे मनमें है, वही हमारे शब्दों, कार्यों एवं व्यवहारसे प्रकट होता रहता है। भीतरी प्रवृत्तियाँ सदा नाना रूप धारण कर हमारे व्यवहारोंसे सुस्पष्ट होती रहती हैं।

अनेक व्यक्ति शान्ति-प्राप्तिके हेतु जंगलोंमें जाते हैं; मन्दिरोंमें सम्पूर्ण दिन व्यतीत करते हैं, उच्च स्वरमें 'ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः' का उच्चारण करते हैं। ये व्यक्ति नहीं जानते कि शान्ति ऐसी स्थिति है, जिसकी जड़ मनुष्यके मनके भीतर है। अंदरसे मनुष्य अच्छा-बुरा, शान्त-विक्षुब्ध, हर्ष-विषादपूर्ण जैसा भी है, वैसा ही वह बाह्य जगत्में भी है। हम अपनी भीतरी मनःस्थितिको अपने मुखमण्डलपर प्रकट किया करते हैं। जिसे हम 'हम' कहकर पुकारते हैं, वह वास्तविक 'हम' अंदरसे ही है। बाहर तो एक आवरणमात्र है। अंदरकी स्थितियाँ हम छिपा नहीं सकते। किसी-न-किसी प्रकार वे प्रकट हो ही जाती हैं। हम अपना बाहरी शरीर सुन्दर वस्त्रों एवं आभूषणोंसे अलंकृत कर तथा चेहरेको क्रीम-पाउडरसे लीप-पोतकर छिपा सकते हैं; पर मनकी धारणाओं, विचारों और द्वन्द्वको नहीं छिपा सकते।

जिसे हम सही और शुभ मानें, वही करनेमें हमारी शान्ति है। शुभसे हम जितना दूर भागते हैं, उतने ही अशान्त और अस्त-व्यस्त रहते हैं। शान्ति एक दैवी मनःस्थिति है इसका निकट सम्बन्ध मनुष्यके मनमें रहनेवाली विवेक-भावनासे है। जब आपका विवेक संतुष्ट रहता है, तब मनमें शान्ति स्वतः स्थिर रहती है। जब विवेकका किसी अन्यायपूर्ण तर्क लालच-रिश्वत, झूठ-फरेब या अत्याचार-अनाचारसे हनन किया जाता है, तब मनकी शान्ति भंग हो जाती है। यही कारण है कि अन्यायी, द्रोही, अविवेकी, क्रोधी और उत्तेजित रहनेवाले व्यक्ति कदापि मनकी शान्तिका आनन्द नहीं प्राप्त करते।

केवल सत्य ही असत्यको, प्रेम क्रोधको, सहिष्णुता और संयम हिंसाको शान्त करते हैं। विवेकसे ही आपकी हीन वृत्तियाँ, निन्द्य वासनाएँ शान्त हो सकती हैं। यदि विवेक तृप्त है, कठोर अनुशासककी भाँति कुटिल वासनाएँ मनको अशान्त नहीं कर सकेंगी।

मनको वशमें रखना, आत्मनियन्त्रण बनाये रखना एक प्रकारकी मानसिक आदत है। जो व्यक्ति धीरे-धीरे दीर्घकालीन अभ्यास—शुभ चिन्तनद्वारा विक्षोभको नीचे छोड़ देता है, वह बड़ी-से-बड़ी कठिनाईमें भी शान्ति बनाये रखता है।

जीवन भीतर या बाहरके तूफानके विरुद्ध सतत संग्राम है, इसलिये संग्रामके मध्य हों, तब भी हमें शान्तिका अनुभव करनेकी आवश्यकता है। जो व्यक्ति भयंकर संग्राममें भी अपनी मनःशान्ति स्थिर रखकर उत्तेजनासे बच सकता है वही सच्चे अर्थोंमें शान्तचित्त कहा जानेका अधिकारी है।

द्वेष, ईर्ष्या, भय, क्रोध, वासना—ये सभी मनःशान्ति भंग करनेवाले शत्रु हैं। इन्हें आत्मनियन्त्रणद्वारा वशमें रखनेकी परम आवश्यकता है। इनसे मनरूपी क्षेत्र विकृत हो उठता है और अनेक मानसिक रोगोंकी सृष्टि हो उठती है।

चिन्ता-मुक्त रहिये; अन्तर्दृष्टि जाग्रत् करनेसे आप मनके कार्य-व्यापार देख सकते हैं और विरोधी मनोविकारोंसे मुक्ति पानेका प्रयत्न कर सकते हैं।

शान्ति बाह्य संसारमें खोजनेसे मिलनेवाली नहीं है, प्रत्युत यह मनके गुप्त प्रदेशमें रहनेवाली संतुलित स्थिति है। आन्तरिक द्रष्टा बनकर इसे प्राप्त किया जा सकता है।

सबसे बड़ा पुण्य—परमार्थ

'इस संसारमें अनेक प्रकारके पुण्य और परमार्थ हैं। हमारे शास्त्रोंमें नाना प्रकारके धर्मानुष्ठानोंका सविस्तर विधान है तथा उनके सुविस्तृत माहात्म्योंका वर्णन है। दूसरोंकी सेवा-सहायता करना पुण्यकार्य है। इससे कीर्ति, आत्मसंतोष तथा सद्गति प्राप्त होती है; किंतु इससे भी बढ़कर एक पुण्य परमार्थ है और वह है—आत्मनिर्माण। आत्मनिर्माणकी तुलना सहस्रों अश्वमेधोंसे नहीं हो सकती।

आत्मनिर्माण मानवमात्रका प्रथम कर्तव्य है। हम दूसरोंको उपदेश, सलाह तथा मार्ग-प्रदर्शन करते नहीं थकते। बात-बातमें दूसरोंकी त्रुटियाँ निकालते हैं, अपने बराबर दूसरेको नहीं समझते, मिथ्या अहंकारमें दूसरोंके प्रति भाँति-भाँतिके कुशब्दोंका उच्चारण करते हैं। पर-छिद्रान्वेषण करते समय हम यह तनिक भी नहीं सोचते कि हम स्वयं कितनी निर्बलताओंके पुंज हैं। अपनी मानसिक तुच्छताकी ओर हममेंसे प्राय: किसीका भी ध्यान आकृष्ट नहीं होता। दूसरोंको उपदेश देना तथा स्वयं अपने परिष्कारका प्रयत्न न करना— एक मानसिक विकार है। दूसरोंका मार्ग प्रदर्शन करानेवाला मूर्ख नहीं जानता कि वह स्वयं कितने गहरे अन्धकारमें छटपटा रहा है।

शास्त्र कहते हैं कि मनुष्यको परोपकार करना चाहिये, किंतु सबसे पहले हमें दूसरोंकी बात छोड़कर स्वयं अपना उपकार अर्थात् आत्मोद्धार करना चाहिये। हमें आज स्वयं अपने चरित्र तथा स्वभावके परिष्कारकी नितान्त आवश्यकता है। आज संसारको दूसरोंको उपदेश देनेवाले उपदेशकोंकी आवश्यकता नहीं है। सच पूछो तो हमें अपना उपकार, उद्धार एवं विकास करनेवाले आत्मसाधकोंकी जरूरत है। दूसरोंकी सेवा-सहायता-परोपकार करना पुण्य है, किंतु अपनी सेवा-सहायता, अपने दुर्गुणोंको, कुविचारोंको, अशुभ संस्कारोंको दूर करना, मनमें एकत्रित ईर्ष्या, तृष्णा, द्रोह, चिन्ता, भय एवं वासनाओंको

विवेककी सहायतासे आत्मज्ञानकी अग्निमें जला देना हमारे लिये सबसे बड़ा धर्म है। यदि हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी त्रुटियोंको दूर करनेमें संलग्न हो जाय, अर्थात् अपनी मानसिक तुच्छता, दीनता, हीनता, दासताका उन्मूलन कर मनमें आत्मज्ञानका दीपक प्रकाशित कर ले, तो हमारे विकासकी एक मंजिल पूर्ण हो जाय। हर भारतवासी यदि आत्मनिर्माण करें तो पृथ्वी स्वर्ग बन सकती है।

आत्मनिर्माण कैसे हो?

आत्मनिर्माणका तात्पर्य है, अपने स्वभाव या चरित्रकी त्रुटियोंको दूर करना तथा निर्भयता, सत्यता, प्रेम, पवित्रता, प्रसन्नता तथा सबमें आत्मभाव देखना, अपनेको शरीर नहीं आत्मा समझना और तदनुकूल उच्च देवोचित आचरण करना, अपनी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक स्थितिको ऊँचा उठाना और अपनेको एक आदर्श नागरिक बनाना इत्यादि। आत्मनिर्माण एक लम्बी योजना है, जिसका ध्येय उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करना है। यह एक जीवन-दर्शन है, जो आशावादी दृष्टिकोण धारण कर सदा ऊँचा उठने, सर्वांगीण उन्नतिमें विश्वास करता है। आत्मविकासका इच्छुक निरन्तर आगे बढ़ता हुआ एक यात्री है। उसके जीवनमें ठहराव नहीं, उत्तरोत्तर प्रगति है। आत्मविश्वासी मनुष्यमें बड़ा सामर्थ्य होता है, उसका आत्मविश्वास शक्ति और प्रतिभाका निर्माण कर सकता है और उलटा होकर ध्वंस भी। अच्छेका निर्माण करना तथा बुरेका ध्वंस—यही अपनी शक्तिका सदुपयोग कहलाता है। स्मरण रखिये, प्रत्येक नव प्रभात एक नयी उन्नतिकी सम्भावनाएँ लानेवाला है।

आत्मविकासके साधन

आत्मनिर्माण चार प्रकारसे होना चाहिये—(१) मानवशरीरकी पूर्णता एवं नीरोगताद्वारा, (२) अपनी भावनाओं (Feelings) पर विजय-प्राप्ति, (३) बुद्धिका विकास और (४) आत्मज्ञान। व्यक्तित्वके इन चारों पक्षोंका उत्तरोत्तर विकास होना अनिवार्य है। शरीर वह साधन है, जिसके द्वारा आत्म-प्रतीति होती है। शरीरको

चाहिये कि वह रोगोंको उसी प्रकार त्याग दे, जैसे हम मनसे अपवित्रता दूर कर देते हैं।

शरीरको निर्विकार, स्वस्थ, सशक्त रखकर ही हम इस दिशामें आगे बढ़ सकते हैं। हमारे प्राचीन योगी, ऋषि-मुनियोंने शरीरको परमेश्वरका पवित्र मन्दिर माना है। शरीर-रक्षाके हेतु हमारा यह पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि हम पर्याप्त परिश्रम करें। शारीरिक एवं श्वास-प्रश्वासके व्यायाम करें। बिना व्यायाम हमारे अंग निर्बल एवं अशक्त होकर पंगु बनते हैं। पवित्र जलवायुमें निवास करना तथा शुद्ध दूध, छाछ, फलोंका रस, पौष्टिक भोजन अधिक मात्रामें लेने चाहिये। जहाँ हम सात्त्विक पदार्थोंको ग्रहण करें, वहाँ हमें चाहिये कि अभक्ष्य पदार्थ, अनिष्टकारी व्यसन, धूम्रपान, मद्य, सिनेमा इत्यादिसे अवश्य बचें। संयम रखें। रोगी अवस्थामें हमारा शरीरके प्रति कर्तव्य और भी बढ़ जाता है। उपवास, अल्पाहार या रसाहारद्वारा हमें अन्तरंग-शुद्धि करनी चाहिये। प्रकृतिके मार्गपर चलकर हम शरीरको निर्विकार अवस्थामें रख सकते हैं।

आत्मविकासका द्वितीय साधन अपनी मनोभावनाओंपर विजय है। हमारी भावनाएँ दो प्रकारकी होती हैं। कुप्रवृत्तियाँ—इस वर्गमें हमारी वासना, क्रोध, घृणा, द्वेष, लोभ, ईर्ष्या, अभिमान, तृष्णा, निर्दयता, निराशा इत्यादि अनिष्ट भावनाएँ सम्मिलित हैं। सतत प्रयत्न एवं अभ्यासके द्वारा इन अनिष्टकारी प्रवृत्तियोंका दमन करना चाहिये। इनसे मुक्तिका सरल उपाय यह है, सद्वृत्तियों (Virtues) का विकास। सद्वृत्तियोंका विकास होते ही अनिष्टभाव स्वयं दूर हो जायँगे। प्रकाशके सम्मुख अन्धकार किस प्रकार टिक सकता है? ज्यों-ज्यों हम अपने तुच्छ अहंसे मुक्त होते जाते हैं, त्यों-त्यों हमारे अंदर एक प्रकाशमय बलशालिनी चेतनाका विकास होता जाता है।

संसारकी आत्माओ! तुम्हारा वासनाओंसे कोई सरोकार नहीं है। तुम्हें धैर्य, उत्साह, प्रेम, उदारता, दानशीलता, कृतज्ञता, विनम्रता, न्याय, सत्य वचन इत्यादि दिव्य भावोंका विकास करना है। तुम उच्चभावोंके लिये निर्मित हुए हो। तुम देवत्वके एक अंश हो। अनिष्ट भावसे

सावधान! यह एक ऐसी अग्नि है जो अंदर-ही-अंदर घुनकी तरह तुम्हें खोखला कर देगी!

तीसरा साधन है—बुद्धि-विकास। अपनी बुद्धिके बलपर ही मनुष्य अन्य प्राणियोंसे उच्च स्तरपर है। बुद्धिके विकासके लिये सतत प्रयत्न करते रहो। ज्ञानकी पिपासा उत्तरोत्तर बढ़ाते रहो। बुद्धि-विकासके दो साधन हैं—अध्ययन तथा महापुरुषोंका सत्संग। उच्चकोटिकी पुस्तकें समीप रखकर मनुष्य ऐसे विद्वानोंके साथ रहता है, जो दिन-रात उसे कुछ-न-कुछ ज्ञान देनेको प्रस्तुत रहते हैं। स्वयं विचार और चिन्तन करो। अपनी भूलोंसे लाभ उठाओ। प्रत्येक भूल हमारी शिक्षिका है, जो किसी-न-किसी दृष्टिसे हमें ऊँचा उठाती है। स्मरण रखो, हम जो कुछ पढ़ते हैं उससे नहीं, परंतु जो पढ़कर स्मरण रखते हैं और जिन आदर्शोंपर काम करते हैं, उनसे समुन्नत बनते हैं।

अन्तिम साधन आत्मज्ञान है, जो आत्मभावसे प्राप्त होता है। वास्तवमें हम हाड़-मांसके शरीर नहीं हैं, बल्कि अजर-अमर आत्मा हैं। इस क्षणभंगुर संसारमें आत्मतत्त्व ही सत्य, स्थिर तथा स्थायी है। सांसारिक दुःखोंकी प्रतीति उन व्यक्तियोंको विशेष रूपसे होती है, जो निम्न स्तरपर रह जाते हैं।

दुःखभोगकी क्षमता हमारे शरीरका प्रत्येक भाग रखता है, परंतु सच्चे आनन्दका मार्ग केवल आत्मा ही है, आत्मज्ञान एवं आत्म-सम्मानको प्राप्त करना और उसकी रक्षा करनेके लिये मनुष्योचित मार्ग अपनाना— यह जीवनका सत्त्वगुणी विकासक्रम है आत्मा महान् तत्त्व है। वस्तुतः हमें यह अधिकार नहीं कि हम अपने-आपको दीन, तुच्छ, अयोग्य और असमर्थ समझें।

आत्मदृष्टि जाग्रत् करते रहिये। सबमें आत्माके ही दर्शन कीजिये। सहयोग, प्रेम, आत्मीयता, संतोष, आनन्द एवं प्रसन्नता ऐसी दिव्य विभूतियाँ हैं, जिनसे जीवनका सत्त्वगुणी क्रम ठीक रहता है। 'मैं पवित्र, अविनाशी और निर्लिप्त आत्मा हूँ।' इस महान् सत्यको हृदयमें ग्रहण कीजिये और तदनुकूल आचरण करते चलिये। आत्मवाद वह

महाविज्ञान है, जिसके प्रयोगके बिना भूतलके समस्त वैभव फीके हैं।

आत्ममार्गके पथिक! सावधान! दूसरेको उपदेश देनेकी मूर्खता मत करना। जबतक अपना सुधार न हो जाय और हम दूसरोंके समक्ष सर्वांगपूर्ण दृष्टिसे आदर्श उपस्थित करनेयोग्य न हो जायँ तबतक पथ-प्रदर्शन करनेका हमें कोई अधिकार नहीं है।

एक-एक कर अपने चरित्र और व्यक्तित्वकी निर्बलताओंपर प्रहार करो। जिस प्रकार कोमल शय्यामें पड़े हुए काँटे मनुष्यको बड़े खटकते हैं और जबतक वह उन्हें दूर नहीं कर देता, तबतक वे उसे कष्ट पहुँचाते रहते हैं। उसी प्रकार हमारे दुर्गुण, व्यसन, चरित्र एवं स्वभावगत निर्बलताएँ, हमारे असंतोष एवं कष्टके कारण हैं।

अपनी इन्द्रियोंको वशमें करना सीखो। शारीरिक वासनाओंकी तृप्तिमें जीवनका निम्नकोटिका सुख है। 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' यह विकारी निम्नकोटिके व्यक्तियोंका उद्देश्य हो सकता है। ऐसा विकारी व्यक्ति परमेश्वरकी इस दुनियामें कलंकमात्र है। परमात्मीय दैवी सम्पदाओंको लेकर भी वह पशु-समान नीच वृत्तियोंमें फँसा हुआ है। तुम्हारा मार्ग परमात्माका दिव्य आदर्श मार्ग है। तुम्हें अपनी पाशविक वृत्तियोंपर विजय प्राप्त करना है। जिस प्रकार एक दृढ़ राजा अपने अनिष्टकर तत्त्वोंको मजबूतीसे दबाकर रखता है, जिससे राज्यमें उत्पात न हो, उसी प्रकार तुम्हें समस्त विषयवासनाओंपर कड़ा निग्रह एवं सुशासन रखना है।

तुम अपने शरीरके स्वामी बनो। विवेककी सहायतासे अपनी आसुरी प्रवृत्तियोंको काबूमें रखो। देवत्वकी शक्तियोंको फैलाओ, देवत्वका ही विकास करते चलो। सच्चा रसायनशास्त्री वही है जो विषय-वासनाओंके लोहेको आध्यात्मिक शक्तियोंद्वारा मानसिक शक्तियोंके सोनेमें बदल देता है। तुम देवत्वके अंश हो। उसीका विकास तुम्हारा सच्चा विकास है। देवता बनो। ऊँचे उठो।

परमार्थके पथपर

शास्त्र कहता है 'सत्त्वं सुखे सञ्जयति' सत्से सुख उपजता है। यदि आप जीवनके उच्चतम लाभको प्राप्त करना चाहते हैं तो वह बाह्य जगत्में नहीं, अन्तर्जगत्में प्राप्त होगा। स्वर्ग, मुक्ति तथा परमपदकी कुंजी आपके हाथमें है। आप चाहें तो आत्मनिर्माणद्वारा इन तत्त्वोंको प्राप्त कर सकते हैं।

संसारका स्वर्ग क्या है? समस्त दुष्ट भावनाओं—काम, क्रोध, मोह, इच्छा, तृष्णा इत्यादिसे दूर रहना। जो व्यक्ति इन वासनाओंका दास है वह नरककी यातनाएँ भुगत रहा है। उसे इस सांसारिक जीवनमें प्रत्येक दुष्ट बन्धनोंमें बँधे रहना है। संसारकी वस्तुओंसे मनुष्यको कोई स्थायी सुख प्राप्त नहीं होता। थोड़ी देर पश्चात् पुनः दूसरी वस्तुकी ओर मन तेजीसे भागता है। एक इच्छाकी तृप्ति हजार नयी इच्छाओंको जन्म देती है। इच्छाओं तथा नाना वासनाओंका दुष्ट चक्र निरन्तर चलता है। जो व्यक्ति भोगमार्गको तिलांजलि देता है, वह संसारके सबसे बड़े खंदकको पार करता है। मस्तिष्कमें निर्बलता, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा, उद्वेग, अरुचि, भ्रम, व्याकुलता आदि दुष्ट भावनाओंके फलस्वरूप ही उत्पन्न होते हैं। अहितकर सांसारिक भोगमार्गको त्यागकर सत्-मार्गका अवलम्बन करना ही स्वर्गकी ओर यात्रा प्रारम्भ करना है।

जब हृदयसे अपवित्र, अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जायँगी और उनके स्थानपर शुभ संकल्पोंका निर्माण होने लगेगा, तभी मनुष्यको वासनाशुद्धि प्राप्त होगी। इसीको 'मुक्ति' पद समझना चाहिये, फिर विशुद्ध जीवनकी तीव्रतासे प्रगति प्रारम्भ हो जाती है।

'परमपद' आत्मविकासका वह स्तर है, जिसमें मनुष्य संसारमें रहता हुआ भी जलमें कमलवत् संसारके क्षणिक प्रलोभनों, कष्टों, मोह, क्षोभकारक चिन्ताओंसे ऊपर रहता है। मनोविकारोंकी आँधी आती है

और ऊपरसे निकल जाती है। रुपये-पैसेके मोह आते हैं किंतु परमपद-प्राप्त व्यक्ति विचलित नहीं होता। दु:ख-पीड़ा आती है किंतु उसके ऊपर बिना कोई असर डाले ही चली जाती है। परमात्माकी अतुलशक्ति, आत्मज्योति, निर्मल बुद्धि एवं सत्प्रेरणाके मंगल प्रकाशमें वह निरन्तर स्थिर रहता है। उसकी वाणीमें परमात्मा बोलता है। उसके कान भव्य वाणीको ही सुनते हैं। उसकी त्वचासे पवित्र वस्तुका ही स्पर्श होता है। वह परमात्माका होकर जीता है। परमात्मासे ही उसकी सत्ता होती है। वह जो श्वास लेता है, वह ब्रह्मरूप चेतन अमृत और दिव्य प्राण है। ऐसे दिव्य आयोजनवाला व्यक्ति सांसारिक कर्म कर्तव्य समझकर करता है, किंतु वह जीवनको परमात्माकी इच्छा-पूर्तिका एक साधन समझता है। वह धन्य है। उसका मन सत्य-शिव संकल्पमय है।

तृप्त नहीं किया जा सकता। यदि हमने प्रभुके दर्शन पा लिये हैं, आत्मसाक्षात्कार कर लिया है तो असली धन हमने पा लिया है। माँगनेयोग्य वर तो आत्मसाक्षात्कार ही है।

पहले तो धनके पैदा करनेमें कष्ट होता है; फिर पैदा किये हुए धनकी रखवालीमें क्लेश उठाना पड़ता है, इसके बाद यदि वह कहीं नष्ट हो जाय तो दुःख और खर्च हो जाय तो फिर दुःख होता है। धन अधिक होनेपर तृष्णा और मोह तथा कम होनेपर हृदयमें जलन उत्पन्न करता है। अन्तमें धनके त्यागमें भी दुःख ही हाथ लगता है। आप ही सोचिये, धनमें सुख कहाँ है?

महर्षि कश्यपका वचन है कि 'यदि ब्राह्मणके पास धनका बड़ा संग्रह हो गया तो यह उसके लिये अनर्थका हेतु है। धन-ऐश्वर्यसे मोहित ब्राह्मण कल्याणसे भ्रष्ट हो जाता है। धन-सम्पत्ति मोहमें डालनेवाली होती है। मोह नरकमें गिराता है, इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषको अनर्थके साधनभूत अर्थका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिये। जिसे धर्मके लिये भी धन-संग्रहकी इच्छा होती है, उसके लिये भी उस इच्छाका त्याग ही श्रेष्ठ है; क्योंकि कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका दूरसे स्पर्श न करना ही अच्छा है। धनके द्वारा जिस धर्मका साधन किया जाता है, वह क्षयशील माना गया है। दूसरेके लिये जो धनका परित्याग है, वही अक्षय धर्म है। वही मोक्ष प्राप्त करानेवाला है।'

धनकी तरह विषय-वासनाकी इच्छा भी विषैली है। वासनाएँ निरन्तर बढ़ती हैं, कभी तृप्त नहीं होतीं। भोगवासना आजकलकी पाश्चात्त्य सभ्यताकी कलंक-कालिमा है। जो कामी हैं, उनका विवेक नष्ट हो जाता है। जहाँ धन और बढ़ती हुई वासनाएँ हैं, वहाँ बुद्धि पंगु हो जाती है। वासना-भोग-विलास-प्रिय व्यक्तिके पास यदि रुपया हो तो वह उसके लोकका नाश करनेवाला होता है, जैसे वायु अग्निकी ज्वालाको बढ़ानेमें सहायक होता है और जैसे दूध साँपके विषको

संयमद्वारा इनपर राज्य करे। मनोविकारों तथा उद्वेगके वशमें होकर उद्विग्न, चलायमान, पीड़ित और क्रुद्ध हो जाना साधारण बातें हैं, किंतु जब मनोविकार अपना जोर दिखा रहे हों, तब उन्हें मजबूतीसे अपने वशमें रखना, उनसे अविचलित रहना, स्वयं अपने इच्छानुसार उन्हें ढालना, क्रोधके समय प्रसन्न रहना—यह आत्मोन्नत व्यक्ति ही कर सकता है।

आत्मोन्नति एक लम्बी यात्रा है। इसकी भिन्न-भिन्न स्थितियाँ तथा अवस्थाएँ हैं। जब हम एक स्तर ऊँचे उठते हैं, तब हमें नीचेकी वस्तुएँ स्वयं निःसार प्रतीत होने लगती हैं। ज्यों ही मनुष्यको जीवनकी नश्वरता, क्षणभंगुरता, निर्बलताका ज्ञान होता है, उसे सांसारिक भोगपदार्थ, बनाव-शृंगार, इन्द्रिय-पूजासे विरक्ति होने लगती है। वह जीवनके सच्चे सुख और आनन्दके प्रति सचेष्ट और जागरूक हो उठता है। जब वह किसी भी सांसारिक सुख या प्रपंचके प्रति आकर्षित होता है, तब उसे उसकी पृष्ठभूमिमें निवास करनेवाली कुरूपता, क्षणिकताका बोध हो जाता है। अतः वह उधरसे हटकर स्थायी और अधिक कालतक मौजूद रहनेवाले सुखोंकी ओर जाता है।

आत्मोन्नतिका अर्थ है—पशुत्वसे मनुष्यत्वकी ओर आना। पशुत्व क्या है? मनोविकारोंके ऊपर तनिक भी शासन न कर पाना, जो जैसा मनोविकार आया, उसे ज्यों-का-त्यों प्रकट कर दिया। काम, क्षुधा, भूख, प्यास आदि वासनाएँ जैसे ही उत्पन्न हुईं कि तुरंत उनकी पूर्ति कर ली गयी, वह स्थिति पशुत्वकी स्थिति है।

जब इन वासनाओंपर संयम आना प्रारम्भ होता है और मानवताके उच्चतम गुण प्रेम, सहानुभूति, करुणा, दया, सहायता, संगठन, सहयोग, समष्टिके लिये व्यक्तिका त्याग इत्यादि भावनाओंका उदय होता है, तब मनुष्य मनुष्यत्वके स्तरपर निवास करता है।

धीरे-धीरे उसका और भी विकास होता है और वह सांसारिक बन्धनोंसे छूटकर आत्मा-जैसे ईश्वरीय तत्त्वकी प्राप्तिमें अग्रसर होता

कल दूसरेके पास निरन्तर घूमता रहता है। जिस मकान या भूमिपर तुम रहते हो, यह तुम्हारे पास आनेसे पूर्व किसी दूसरेकी थी, तुम्हारी मृत्युके पश्चात् इसपर किसी दूसरेका आधिपत्य होगा। एकसे दूसरे और दूसरेसे तीसरे, चौथे, पाँचवेंके पास रुपया, भूमि तथा संसारकी नाना वस्तुएँ घूमती रहती हैं। अन्न, वस्त्र, जल, भूमि, आकाश इत्यादि तत्त्व अपना-अपना स्वरूप नित्य बदलते रहते है। पंचतत्त्वोंके सम्मिश्रणसे जीवन तैयार होता है; मृत्युके पश्चात् पुनः इन्हींमें मिलकर नष्ट हो जाता है।

अन्तर्मुखी रहना ही श्रेष्ठ है

सुखका केन्द्र जितना ही बाह्य वस्तुओंमें माना जायगा, उतना ही आत्माको क्लेश होगा। बाह्य वस्तुएँ तो सतत परिवर्तनशील हैं। इनका परिवर्तन आवश्यक है। इस परिवर्तनके आते ही तुम्हारा सुख-स्वप्न विनष्ट हो जायगा। मकान, वस्त्र, भोगकी नाना वस्तुएँ, भोजन, वासना-तृप्तिके उपकरण निरन्तर परिवर्तनको प्राप्त हो रहे हैं। उनमें अपने सुखको केन्द्रित कर देना; या यह मान लेना कि हमारा सुख इन्हींकी उपस्थितिपर निर्भर है, अज्ञान और अन्धकारमय दृष्टिकोण है।

किसी व्यक्तिविशेषमें तुम्हारा सुख केन्द्रित नहीं रह सकता। उस व्यक्तिका तुम्हारे प्रति व्यवहार कभी एक-सा नहीं रह सकता। व्यक्ति हाड़-मांसका पुतला है—क्षण-क्षण परिवर्तन होनेवाला, एक पलमें अच्छा, दूसरे पलमें नाराज होनेवाला, हवाके झोंकेके समान अस्थायी। जबतक तुम लोगोंके स्वार्थकी पूर्ति करते हो, उनका लाभ करते हो, उन्हें तुमसे चार पैसे मिलनेकी आशा है, तबतक वे तुम्हें पूछते हैं, हँसते-बोलते हैं, अपने सम्बन्ध रखते हैं। जिस दिन उनके स्वार्थमें धक्का लगेगा, उसी दिन वे तुमसे रुष्ट हो जायँगे, तुम्हारा सुख-स्वप्न नष्ट हो जायगा।

बन्धनसे मुक्त होनेकी भावना

वास्तविक सुखी वही है जिसने अपने सुखका केन्द्र किसी बाह्य

सदुपदेशोंको ध्यानपूर्वक सुनिये

'तुम पेटको भोजन देते हो; पर देखो, कानको भी भोजन दे देना। पेट भूखा रहेगा तो शरीर क्षीण होगा और कान भूखे रहेंगे तो बुद्धि मन्द हो जायगी। श्रेष्ठ पुरुषोंके अभिवचन सुननेका जब अवसर आये तो अन्य कार्य छोड़कर भी वहाँ पहुँचो; क्योंकि उनके वचन तुम्हें वह वस्तु दे सकते हैं, जो रुपये-पैसेकी अपेक्षा हजारों गुनी मूल्यवान् होगी। जो लोग जीभसे अच्छा खाना खानेमें तो कुशल हैं, पर कानोंसे सदुपदेश सुननेका आनन्द नहीं जानते, उन्हें बहरा ही कहना चाहिये। ऐसोंका जीना और मर जाना एक समान है।'

(आचार्य श्रीराम शर्मा)

हमारे कानोंको सदुपदेशरूपी सुधा निरन्तर प्राप्त होती रहनी चाहिये। मनुष्यका स्वभाव चंचल है, इन्द्रियोंकी अस्थिरता प्रसिद्ध है। यदि आत्मसुधारमें सभी इन्द्रियोंको वशमें रखा जाय तो उचित है; क्योंकि अवसर पाते ही इनकी प्रवृत्ति पतनकी ओर होने लगती है। सदुपदेश वह अंकुश है, जो मनुष्यको कर्तव्यपथपर निरन्तर चलते रहनेको प्रेरित करता रहता है। सत्पथसे विचलित होते ही कोई शुभ विचार या स्वर्णसूत्र पुनः ठीक मार्गपर ले आता है।

प्रत्येक सदुपदेश एक ठोस—प्रेरक विचार है। जैसे कोयलेके छोटे-से कणमें विध्वंसकारी विपुल शक्ति भरी हुई है, उसी प्रकार प्रत्येक सदुपदेश शक्तिका एक जीता-जागता ज्योति-पिण्ड है। उससे आपको नया प्रकाश और नवीन प्रेरणा प्राप्त होती है। महापुरुषोंकी अमृतमयी वाणी, कबीर, रहीम, गुरु नानक, तुलसी, मीराबाई, सूरदास आदि महापुरुषोंके वचन, दोहों और गीतोंमें महान् जीवन-सिद्धान्त कूट-कूटकर भरे हुए हैं; जिनका आधार गहरे अनुभवके ऊपर रखा गया है। आज ये अमर तत्त्ववेत्ता हमारे मध्य नहीं हैं। उनका पार्थिव शरीर विलुप्त हो चुका है। पर अपने सदुपदेशके रूपमें वे वह जीवन-सार

छोड़ गये हैं, जो हमारे पथ-प्रदर्शनमें बड़ा सहायक हो सकता है।

आदमी मर जाता है, उसके साज-सामान, महल सब टूट-फूटकर नष्ट हो जाते हैं, परंतु उसके जीवनका सार-उपदेश और शिक्षाएँ वह अमर वस्तु है, जो युगोंतक जीवित रहती है। इसी पृथ्वीपर आजतक न जाने कितने व्यक्ति आये और मृत्युके ग्रास हुए, उनका नाम-निशानतक शेष नहीं बचा है, किंतु जिन विचारकों, तत्त्व-वेत्ताओं और महापुरुषोंने अपने जीवनके अनुभव रखे हैं, वे आज भी मशालकी तरह हमें प्रकाश दे रहे हैं।

मनुष्यका अनुभव धीमी गतिसे बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, वैसे-वैसे कड़ुवे-मीठे घूँट पीकर हम आगे बढ़ते हैं। अब यदि हम केवल अपने ही अनुभवोंपर टिके रहें तो बहुत दिनोंमें जीवनके सारको पा सकेंगे। इससे अच्छा यही है कि हम विद्वानोंके अनुभवोंको ध्यानपूर्वक पढ़ें और उन्हें अपने अनुभवोंसे परखें, तौलें और जीवनमें ढालें। उन्होंने जिन प्रलोभनोंका उल्लेख किया है, उनसे बचें; जिन अच्छी आदतोंको सराहा है, उन्हें विकसित करें। सदुपदेशोंको ग्रहण करना अपने-आपको लाभान्वित करनेका एक सरल उपाय है। सत्यके शोधक, उन्नतिके जिज्ञासु और कीर्तिके इच्छुकका यह सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह केवल अपने थोड़ेसे अनुभवोंके बलपर न टिककर मानवताको प्रशस्त और समुन्नत करनेवाले विचारकोंके अनुभवोंसे लाभ उठाये। सदुपदेश हमारे लिये प्रकाशके जीते-जागते स्तम्भ हैं। जैसे समुद्रमें जहाजोंको उचित मार्ग-निर्देश करनेके लिये 'प्रकाश-स्तम्भ' बनाये जाते हैं। विद्वानोंके ये उपदेश ऐसे ही प्रकाश-स्तम्भ हैं। हम यह नहीं कहते कि आप आँख मूँदकर ही इन्हें ग्रहण करें। आप अपनी बुद्धि और तर्कसे खूब काम लीजिये, किंतु उपदेशोंमें व्यक्त आधारको अवश्य ग्रहण कीजिये। आपको विवेकवान् बननेमें ये प्रचुरतासे सहायता देनेवाले हैं। सत्य, प्रेम और न्यायका पथ इनसे स्पष्ट हो जाता है।

आपको कोई दूसरा अच्छी सलाह दे, उसको सुनना आपका कर्तव्य

है; परन्तु आपके पास अन्तरात्माका निर्देश है, आप अपनी आत्माकी सलाहसे काम करते रहिये, कभी धोखा नहीं खायेंगे।

जिन्होंने बहुत सदुपदेश सुने हैं; वे देवतारूप हैं। कारण, जब मनुष्यकी प्रवृत्ति अच्छाईकी ओर होती है, तभी वह सदुपदेशोंको पसन्द करता है। तभी सत्संगमें बैठता है। तभी मनमें और अपने चारों ओर वैसा शुभ सात्त्विक वातावरण निर्मित करता है। किसी विचारके सुननेका तात्पर्य चुपचाप अन्तःकरणद्वारा उसमें रस लेना, उसमें रमण करना भी है। जो जैसा सुनता है, कालान्तरमें वैसा ही बन भी जाता है। आज आप जिन सदुपदेशोंको ध्यानपूर्वक सुनते हैं, कल निश्चय ही वैसे बन भी जायँगे। सुननेका तात्पर्य अपनी मानसिक प्रवृत्तियोंको देवत्वकी ओर मोड़ना है।

एक विद्वान्ने कहा है, 'जल जैसी जमीनपर बहता है, उसका गुण वैसा ही बदल जाता है।' मनुष्यका स्वभाव भी अच्छे-बुरे विचारों या लोगोंके संगके अनुसार बदल जाता है। इसलिये चतुर मनुष्य बुरे लोगोंका संग करनेसे डरते हैं, किन्तु मूर्ख व्यक्ति बुरे आदमियोंके साथ घुल-मिल जाते हैं और उनके सम्पर्कसे अपने-आपको भी दुष्ट ही बना लेते हैं। मनुष्यकी बुद्धि तो रहती है, किन्तु कीर्ति उस स्थानपर निर्भय रहती है, जहाँ वह उठता-बैठता है। आदमीका घर चाहे जहाँ हो, पर वास्तवमें उसका निवासस्थान वह है, जहाँ वह उठता-बैठता है और जिन लोगों या विचारोंका संग उसे पसन्द है। आत्माकी पवित्रता मनुष्यके कार्योंपर निर्भर है और उसके कार्य संगतिपर निर्भर हैं। बुरे लोगोंके साथ रहनेवाला अच्छे काम करे, यह बहुत ही कठिन है। धर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, किन्तु धर्माचरण करनेकी बुद्धि सत्संग या सदुपदेशोंसे ही प्राप्त होती है। स्मरण रखिये; कुसंगसे बढ़कर कोई हानिकर वस्तु नहीं है तथा सत्संगतिसे बढ़कर कोई लाभ नहीं है।

जब आप सदुपदेशोंकी संगतिमें रहते हैं, तब गुप्तरूपसे अच्छाईमें बदलते भी रहते हैं। यह सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया स्थूल नेत्रोंसे

दीखती नहीं है, किन्तु इसका प्रभाव तीव्र होता रहता है। अन्ततः मनुष्य उन्हींके अनुसार बदल जाता है।

वाल्मीकि डाकू थे। लूट-मार, हत्या और हिंसासे अपना और अपने परिवारका उदर-पोषण किया करते थे। एक दिन संयोगसे नारद मुनि उधरसे आ निकले। वाल्मीकिको उपदेश देनेकी उनकी इच्छा बलवती हो आयी।

वे सामनेसे निकले तो डाकू वाल्मीकिकी दृष्टि उनपर पड़ी। उसने सोचा, अवश्य ही इस मुनिके पास कुछ धन होना चाहिये।

'खड़े रहो!' वह कर्कश स्वरमें चीख उठा।

नारद मुनि विनीत भावसे खड़े रह गये।

'तुम्हारे पास जो कुछ छिपा हुआ है, अपनी जान बचाना चाहते हो तो सब यहाँ निकालकर रख दो। देखते हो यह कुल्हाड़ी, अभी गर्दन साफ कर दूँगा।'

नारदजी बोले, 'मुझ मुनिके पास कुछ नहीं है! दया करो, मुझे छोड़ दो।'

'है कैसे नहीं? जरूर तुम मुझसे छिपा रहे हो। यह देखो, तेज कुल्हाड़ी। अभी तुम्हारे सिरको धड़से पृथक् करता हूँ। मैं अगर इस प्रकार लोगोंको दया करता रहूँ तो अपने परिवारका उदर-पोषण कैसे करूँ।'

नारदजी बोले—'यह तो ठीक है कि तुम यात्रियोंकी हत्या कर उनका माल लूटकर अपने परिवारका उदर-पोषण करते हो; पर इन अनेक हत्याओंका पाप भी क्या वे बाँटकर आधा ले लेंगे? क्या वे तुम्हारे पाप, हिंसा, नरकमें भी हिस्सा बटायेंगे?'

यह सुनकर वाल्मीकि कुछ सोचने लगा। फिर एकाएक बोला, 'मैं तुम्हें यहीं वृक्षसे बाँध देता हूँ और फिर परिवारवालोंसे पूछकर आता हूँ कि क्या वे मेरे पाप-कर्मोंके भी हिस्सेदार होंगे? मैं उन्हींके निर्वाहके लिये तो ये हत्याएँ करता हूँ।' थोड़ी देरतक नारदजी रस्सीसे बँधे रहे।

उन्हें तो अपने ज्ञानका तेज तर्क और बुद्धिका चमत्कार प्रदर्शित कर भ्रान्त व्यक्तिको सन्मार्गपर लाना था।

कुछ काल पश्चात् वाल्मीकि लौटकर आया और बोला—'उन्होंने तो स्पष्ट नकारात्मक उत्तर दे दिया।' वे कहते हैं कि 'हमारा कार्य तो केवल खाना है। तुम किस प्रकार भोजन लाते हो, इससे हमें कोई सरोकार नहीं। यदि तुम पाप, हत्या या हिंसासे जीविका उपार्जन करते हो, तो इसका पाप तुम्हें ही भुगतना पड़ेगा।'

नारद बोले, 'तो तुम मिथ्या इस मायाजालमें क्यों पड़े हो?' जिन व्यक्तियोंके लिये तुम इतना पाप-भार उठा रहे हो, वे तो तुमसे दूर हट जानेवाले हैं। अपने पापकी सजा स्वयं तुम्हींको भुगतनी है। सजामें कोई भी हिस्सा बँटानेको प्रस्तुत नहीं है। घरके लोग केवल अपने स्वार्थकी सिद्धिका सत्कार करते हैं। किसीका कोई सम्मान या सत्कार नहीं करता। सर्वत्र स्वार्थ-ही-स्वार्थ है। तुम अपने अन्तःकरणमें स्थित ईश्वरकी ध्वनिका संकेत क्यों नहीं पालन करते? जो आदमी अपने अन्तःकरणके दिव्य संकेतोंके अनुसार चलते हैं, उनकी विवेकशक्ति अथवा भले-बुरेके पहचाननेकी शक्ति बढ़ती रहती है। तुम्हारे अन्दर देवत्व है, ईश्वरत्व है। उसके संकेतोंको पहचानकर दिव्यताकी ओर बढ़ो।

डाकूके मनपर इस उपदेशका गहरा प्रभाव पड़ा। उसने इसपर जितना सोचा, वह उतना ही गहरा उतरता चला गया। ज्ञान, विवेक, बुद्धि, सम्मति धीरे-धीरे सभी शक्तियाँ खुलने लगीं। उसका अज्ञानतिमिर नष्ट हुआ और वह पापसे छूट गया। यह है सदुपदेशका प्रत्यक्ष चमत्कार!

गंगाजलसे जिस प्रकार शरीर शुद्ध होता है, वैसे ही सदुपदेशसे मन, बुद्धि और आत्मा पवित्र होती है। धर्मात्मा मनुष्योंकी शिक्षा एक सुदृढ़ लाठीके समान है, जो गिरे हुए पतितोंको सहारा देकर ऊँचा उठाती रही है और बुरे अवसरोंपर गिरनेसे बचा लेती है। जो शिक्षित

हैं, उनके लिये सैकड़ों, एक-से-एक सुन्दर अनुभवपूर्ण ग्रन्थ विद्यमान हैं। कवियों, विचारकों, तत्त्व-दर्शकोंकी वाणियाँ हैं। दोहे, भजन, सूक्तियाँ हैं। इनका मनन और आचरण करना चाहिये। जो अशिक्षित हैं, वे लोग भी धर्मात्माओंके सत्संगसे इतनी शक्ति प्राप्त कर सकते हैं, जिससे अपने-आपको सँभाल सकें और विपत्तिके समय अपने पैरोंपर खड़े हो सकें। स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४। ३८)

अर्थात् 'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कोई भी पदार्थ नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

ये मानवा हरिकथाश्रवणास्तदोषाः
कृष्णाङ्घ्रिपद्मभजने रतचेतनाश्च।
ते वै पुनन्ति च जगन्ति शरीरसङ्गात्
सम्भाषणादपि ततो हरिरेव पूज्यः॥
हरिपूजापरा यत्र महान्तः शुद्धबुद्धयः।
तत्रैव सकलं भद्रं यथा निम्ने जलं द्विज॥

जो मानव भगवान्‌की कथा श्रवण करके उससे सदुपदेश ग्रहण कर अपने समस्त दोष-दुर्गुण दूर कर चुके हैं और जिनका चित्त भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंकी आराधनामें अनुरक्त है, वे अपने शरीरके संग अथवा सम्भाषणसे भी संसारको पवित्र करते हैं। अतः सदा श्रीहरिकी ही पूजा करनी चाहिये। ब्रह्मन्! जैसे नीची भूमिमें इधर-उधरका सारा जल सिमट-सिमटकर एकत्र हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ भगवत्पूजापरायण शुद्धचित्त महापुरुष रहते हैं, वहीं सम्पूर्ण कल्याणका वास होता है।

गुप्त सामर्थ्य

मनुष्यको अपने गुप्त तेज और महान् सामर्थ्यका तबतक ज्ञान नहीं होता, जबतक उसे आत्मभावकी चेतना या अपने अन्दर बैठे हुए पवित्र आत्मतत्त्वका बोध न हो जाय। आध्यात्मिक दृष्टिकोणको अपनाने और अपनेको आत्मा मानने, ईश्वरका अंश स्वीकार करनेसे मनुष्यका आध्यात्मिक विकास होने लगता है।

अपनेको आत्मा माननेसे मनुष्यको ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह अन्धकारसे ज्ञानके दिव्य प्रकाशमें आ गया हो अथवा घोर सुषुप्तिसे वह जागृतिमें आ गया हो।

'सोऽहम्' अर्थात् मैं आत्मा हूँ—वेदान्त-ग्रन्थोंमें आत्माको जाननेका यह सबसे सरल और असंदिग्ध साधन बताया गया है।

'मैं हाथ हूँ, मैं पाँव हूँ, मैं गुदा हूँ, मैं सिर हूँ या मैं हाड़-मांसका शरीर हूँ'—ये सब उक्तियाँ मिथ्या हैं। भ्रममें डालनेवाली हैं। 'मैं शरीर नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ। सत्-चित्-स्वरूप आत्मा हूँ।' यही सच्चा ज्ञान है। यही वह भावना है जो हृदयमें जमानी चाहिये। 'मैं आत्मा हूँ' **(सोऽहम्)** इसके जप, ध्यान और सतत अभ्याससे मनुष्यकी आत्मामें स्थिति होने लगती है और वह अनात्म (क्षुद्र और क्षणिक) वस्तुओंसे अपने-आपको पृथक् करने लगता है। जब आप पूर्ण विश्वाससे कहते हैं मैं आत्मा हूँ, तब इस मन्त्रके जपसे आपके चारों ओर चैतन्यता बढ़ानेवाला एक वातावरण बन जाता है। आपके शरीर, मन और वाणीमें चैतन्यताका संचार होने लगता है। सत्त्वगुणोंका संचार आपकी नस-नसमें हो जाता है। सात्त्विक कम्पनोंसे आप अपने सामर्थ्यकी वृद्धि करते हैं। सत्त्वगुणसे सद्ज्ञान उत्पन्न होता है—**'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'** जिन क्षुद्र बातों, सांसारिक क्लेशोंपर उथले व्यक्ति दुःख भोगते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं वे आत्म-परिचयसम्पन्न व्यक्तिको तुच्छ और सारहीन मालूम होने लगते हैं। कारण, वह अपनी आत्मामें स्थिर हो जाता है और उसके विक्षेप, उद्वेग और भ्रम नष्ट हो जाते हैं तथा वह अपने ईश्वरत्वमें निवास करता है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोणको अपनानेका एक लाभ यह है कि मनुष्यका स्तर साधारण मनुष्योंसे ऊँचा उठ जाता है। प्रकृतिके नियमानुसार जब उसपर रजस् और तमस्का वेग आता है, तब-तब वह भय, चिन्ता और उद्वेगसे हताश नहीं होता। अन्दरसे उसे सन्तोष रहता है कि उसकी गुप्त आत्मशक्ति उसकी सहायता करेगी।

आत्माकी दिव्य शक्तियोंको विकसित करनेका हमें पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। हमारी आत्मामें सत्य, प्रेम, न्याय, शान्ति, स्थिरता, अहिंसा और आनन्दकी अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। यदि हम अपने-आपको आत्मा मानें तो निम्न सांसारिक पदार्थोंकी नश्वरता देखकर हमें वैराग्य हो जायगा। वियोग, हानि, नाश आदिसे बहुत कम मानसिक दुःख होगा, दुःख-निवारण होकर आत्मसन्तोषकी भावना स्थिर होगी। रात्रिमें बुरे स्वप्नोंका नाश हो जायगा। आत्मभावका विस्तार होनेसे दूसरोंके प्रति हमारा भाव प्रेम, सद्भाव, ईमानदार, सेवाका व्यवहार हो जायगा। हम आत्म-निरीक्षण सीख जायँगे, जिसके द्वारा हमारी कुप्रवृत्तियोंका नाश होगा और हम मानसिक शान्ति प्राप्त करेंगे। हमारे चित्तको स्थिरता प्राप्त होगी और हम इन्द्रिय-संयममें सम्पन्न होंगे। चित्तकी स्थिरतासे आयु बढ़ेगी और शरीर नीरोग होगा। दृढ़ता—परिश्रमशीलता आयेगी। बुद्धि परिमार्जित होगी। निश्चय जानिये, आत्मिक दृष्टिकोण अपनानेसे आपको जीवनके समस्त उच्च आनन्द प्राप्त हो जायँगे, ईश्वरत्वकी प्राप्ति होगी और सत्-चित्-आनन्दकी उच्च स्थितिमें आपका निवास रहेगा। ये समस्त सिद्धियाँ सांसारिक पुरुषोंको प्राप्त नहीं होतीं।

हमारी आत्मामें असंख्य शक्तियाँ इसलिये दी गयी हैं कि हम साधारण मनुष्यों और पशुओंसे ऊपर उठें। इन्द्रियोंके मनोविकारोंसे बचे रहें। ये दिव्य शक्तियाँ अज्ञानवश हमारे अन्तर्मनमें सुप्त पड़ी हुई हैं। केवल ध्यान और अभ्यासद्वारा उन्हें जाग्रत् भर करनेकी आवश्यकता है। ध्यानके बिना हम अपनी उच्च शक्तियोंपर चित्तको एकाग्र नहीं कर सकते। अतः हमें अपनी उच्च शक्तियोंका अधिकाधिक प्रयोग करते रहना चाहिये।

आनन्द प्राप्त करनेके अचूक उपाय

आनन्द कोई ऐसा तत्त्व नहीं, जिसे आप धन देकर बाजारसे खरीद सकें, अथवा बागके किसी हरित-पुष्पित खेतसे काट सकें। यह वातावरणमें नहीं उड़ता, न वृक्षोंकी झूमती हुई लतिकाओंपर ही लगता है। किसी अदृश्य शक्तिके आह्वानद्वारा हम इसे प्राप्त नहीं कर सकते, न देश-विदेशमें खोज करनेसे इसे पाया जा सकता है।

आनन्दका सम्बन्ध हमारे उस कार्यसमूहसे है जो हमें आनन्दानुभूति प्रदान करता है। यह हमारा शरीर और शरीरमें भी विशेषत: मस्तिष्क है। मस्तिष्क एक थर्मामीटर है, जो हमें सूचित करता है कि हम कितने किस अनुपातमें आनन्दित हैं।

आनन्द मनुष्यकी शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओंका एक फल है या यों समझिये कि जिस प्रकार पत्थर और लोहेके पारस्परिक संघर्षसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार हमारे समाज तथा परिवारके इस सांसारिक संग्रामसे उत्पन्न नवनीतका नाम आनन्द है। थकान क्या है? उदासी किसे कहते हैं? अरुचिका क्या तात्पर्य है? यदि एक शब्दमें इन प्रश्नोंका उत्तर चाहें तो कहना होगा कि ये मनुष्यके काम न करने और यों ही आलस्यमें पड़े रहनेके दुष्परिणाम हैं। वे ही व्यक्ति उदासीका अनुभव करते हैं, जो खुद हाथ-पाँव नहीं हिलाना चाहते। प्राय: देखा जाता है कि अमीर—धनीवर्ग जीवनमें थकान और उदासीके शिकार रहते हैं। उनके पास हर प्रकारके आराम हैं। चलनेके लिये मोटरगाड़ी, आलीशान कोठियाँ, सुन्दर वस्त्र और सुस्वादु भोजन। एक आवाजपर अनेक नौकर उपस्थित हो जाते हैं। खुद कुछ करनेको है ही नहीं, फिर आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है?

सच मानिये, काम न करनेसे भी एक प्रकारकी थकान उत्पन्न होती है, जो मनुष्यकी सृजनात्मक शक्तियोंको पंगु बनाकर एक प्रकारकी उदासीसे भर देती है। आलस्य आदतका अंग बनता ही जाता है फिर

तो चाहे कितना ही प्रयत्न कीजिये, आप आलस्यके कीचड़में गिर ही जाते हैं। कार्य न करनेसे शरीरको पूरी कसरत नहीं मिलती और रात्रिमें पूरी और गहरी निद्रा नहीं आती। काम न करनेवालोंको प्रकृतिकी ओरसे सजा है—अनिद्रा, अपच, सिरदर्द, कार्यमें अरुचि और अन्धकारमय उदासी।

'मन नहीं लग रहा है यह उक्ति उन व्यक्तियोंकी है, जिन्हें करनेके लिये कोई कार्य नहीं है, जो निठल्ले और बेकार हैं, न काम करनेके पापके भागी हैं, जिनका जीवन जंग लगी हुई कुल्हाड़ीकी तरह बेकार और कुण्ठित हो गया है।

आनन्द एक प्रकारकी आभा है, जो निरन्तर कार्य करनेवालेकी मुसकानसे प्रकट होती है। ऐरोन बर नामक एक लेखकने कहा है— 'मैंने अपने जीवनका ऐसा क्रम बनाया है कि मैं अपने व्यापारमें आनन्द ढूढ़ूँ और हर आनन्दको व्यापार बना लूँ। वस्तुतः मैं जो भी छोटा-बड़ा काम हाथमें लेता हूँ ऐसे जी लगाकर करता हूँ कि उसीमें मुझे आनन्द आने लगता है; कभी आनन्दके क्षणोंमें बहुमूल्य कार्य भी कर डालता हूँ। मैंने आनन्द और कार्यमें समझौता कर लिया है।'

टी० वास्टन कहते हैं—'चीनसे पीरुतक यदि आपलोगोंके आनन्दका विश्लेषण करें तो आपको विदित होगा कि वे कलात्मक कार्योंद्वारा तृप्ति प्राप्त करते हैं। डायडन कहते हैं, 'Sweet is pleasure after pain' पहले मेहनत करके शरीरको कष्ट दो, जी तोड़कर श्रम करो, जिसके फलस्वरूप प्रकृति आपको अच्छी भूख, मजबूत स्वास्थ्य और गहरी निद्रा प्रदान करेगी। क्या ये तीनों आनन्ददायी नहीं हैं?

रुचिपूर्ण कार्यमें आनन्द है। वह व्यक्ति वास्तवमें धन्य है, जिसे अपने रुचिका कार्य प्राप्त हो गया है। प्रकृतिको देखिये, हर जीव निर्दिष्ट कार्य कर आनन्द प्राप्त करता है। फुदकती हुई चिड़ियाँ, हरिण, बन्दर, गाय, बकरी आदि सब प्रातःसे सायंकालतक कुछ-न-कुछ परिश्रम आयुपर्यन्त करते रहते हैं। इनकी समस्त शक्तियाँ कार्यमें संलग्न

अपने दिव्य सामर्थ्योंको विकसित कीजिये

आजके युगमें मानवताका कैसा भीषण ह्रास हुआ है तथा निरन्तर होता जा रहा है, यह सर्वविदित है। सत्य, प्रेम, न्याय, सहानुभूति, सौहार्दकी भावनाएँ विलुप्त हो चुकी हैं तथा मानवकी बर्बर चेतना जैसे जाग उठी है!

हममेंसे प्रत्येकका यह पवित्र कर्तव्य है कि मनुष्यत्वके विकासके हेतु निरन्तर प्रयत्नशील हो। मनुष्यकी महानता इसी बातमें है कि वह स्वयं अपने अन्दर तथा दूसरोंमें उन सद्‌गुणों, शुभ भावनाओं एवं उत्तम आचरणोंका विकास करनेमें प्रयत्नशील हो, जिनका सम्मिलित नाम 'मानवता' है। हममेंसे प्रत्येकको उन शुभ सात्त्विक सामर्थ्योंको विकसित करनेका प्रयत्न करना चाहिये, जो हमें पशुत्व तथा असुरत्वसे ऊँचा उठाते हैं। मानवताकी पूर्णता देवत्वकी प्राप्तिका प्रथम सोपान है।

समाज तथा हमारे परिवारोंमें जो मलिन विश्वास, अविश्वास, घृणा एवं स्वार्थ संचित हो गया है, उसे निकाल देना चाहिये। प्रत्येक मुहल्लेमें सेवा-सभाएँ, मानव-गोष्ठियाँ, समितियाँ आदि बनें, जो मिथ्या भेद-भाव त्यागकर मानवमात्रके कल्याणका प्रयत्न करें। भ्रातृभाव, प्रेम, सौहार्द, समता, सहकारिता, सहानुभूतिका वातावरण उत्पन्न करें। खेदका विषय है, हमारे समाजमें अब भी ऐसी जातियाँ हैं, जिनसे प्रेम और समताका व्यवहार नहीं होता है। हमें इसमें पर्याप्त सुधार करना पड़ेगा और मानवताके नाते घृणा तथा द्वेषको सर्वथा निकालकर सबमें आत्मवत् प्रेम-भावकी प्रतिष्ठा करनी पड़ेगी।

हानिकर रूढ़ियाँ दूर कीजिये

मानवताकी रक्षाका एकमात्र उपाय यह है कि मानवके सर्वांगीण विकासमें जो सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक या अन्य बाधाएँ हैं, उनको दूर कर दिया जाय। प्रत्येक मानव यह कार्य करे। अत्याचार, अविचार और अनाचारका निर्भीकतासे डटकर सामना किया

जाय। यदि हमें अन्य राष्ट्रोंकी प्रतियोगितामें जीवित रहना है तो समाजके प्रत्येक व्यक्तिको जागृत करना होगा, उसे शिक्षित कर आचार-विचार, कर्तव्य-अकर्तव्य, पाप-पुण्यका विवेक सिखाना होगा, सबकी जिम्मेदारी स्वयं अपनी जिम्मेदारी समझनी होगी। इस प्रकार सबको समुन्नत—संगठित कर आगे बढ़ाना होना। हम भावी मानवके लिये निष्कण्टक, आलस्यहीन, प्रमादरहित, आडम्बरविहीन, सरल-सादा, उच्च विचारोंवाला जीवन चाहते हैं। पाश्चात्त्य सभ्यता एवं विदेशी संस्कृतिसे हमें आँखें मूँदकर प्रभावित नहीं होना है। हमें भारतीय संस्कृतिकी पृष्ठभूमिपर मनुष्यत्वका विकास करना है। हमारा अन्तिम ध्येय तो वह सांस्कृतिक स्वराज्य है, जिसमें सब सुखी हों, सब सम्पन्न, शिक्षित, प्रकाशमान हों, हमारी जरूरी माँगें पूर्ण हों, साहित्य-कला, ज्ञान-विज्ञानकी वृद्धि हो और स्वास्थ्यसुख एवं शान्तिके सब साधन मानवमात्रके लिये सुलभ हों।

संवेदनशील हृदयकी आवश्यकता

मानवताकी वृद्धि एवं विकासकी एक बड़ी आवश्यकता है—संवेदनशील हृदय (दर्द-दिल), दृढ़ प्रतिज्ञता और सद्भावना। संवेदनशील वह है जो मानवमात्रकी कसक, पीड़ा-उल्लास, हर्ष, सिसक, रोदनको अपने दिलमें महसूस करता है। जब दीन-गरीब मानवपर अत्याचार होता है, तब संवेदनशील मानवके हृदयमें टीस उठती है; जब विधवाके ऊपर लात-घूँसोंका प्रहार होता है, तब उसकी चोट उसके मनपर आघात करती है; जब लूटमार, डाकेजनी, कालाबाजारी, रिश्वतसे मानवता कलंकित होती है, तब वह मन-ही-मन रोया करता है। वह शोषित-पीड़ित मानवताके प्रति सदा सद्भावना रखता है। जबतक दूसरोंपर होते हुए अत्याचार हमें तिलमिला नहीं देते, जबतक हम अपने संकुचित स्वार्थोंके दायरेमें बन्द हैं, तबतक हम मानवतासे दूर हैं। अतः हमें यह स्मरण रखना चाहिये—

रहनेके कारण आनन्दोपलब्धिके लिये जागरूक रहती हैं। सतत कार्यशीलता उनके समस्त दुःखोंको दग्ध कर देती है।

दुःख और निराशा आपपर तभी आक्रमण करते हैं, जब आप शरीर और मनसे खाली, आलसी या निश्चेष्ट रहते हैं। खाली स्थानमें कुछ-न-कुछ तो आयेगा ही। आप चाहे उसमें आसुरी सम्पत्ति—चिन्ता, निराशा, पाप, वेदना और उदासी भर लें अथवा दैवी सम्पदाएँ—उल्लास, सद्भाव और कार्यशीलता। कार्यमें संलग्न व्यक्ति अपने मन और शरीरकी समस्त शक्तियोंको काममें इतना एकाग्र कर देता है कि उसे चिन्तित और दुःखी होनेका अवकाश ही प्राप्त नहीं होता।

टामस हुडकी ये पंक्तियाँ गहरे सत्यसे परिपूर्ण हैं—

कार्य कीजिये, कार्य कीजिये, कार्य कीजिये
यहाँतक कि आपका मस्तिष्क चकरा उठे!

जहाँतक आपके नेत्र थकान और नींदसे मूँद जायँ। यही थकान आनन्द है।

दर्दे दिल, पासे वफा जजबए ईमाँ होना।
आदमीयत है, यही और यही इन्सा होना॥

यम-नियम

हमारे शास्त्रोंमें मानवताकी वृद्धिके लिये यम-नियमोंका विधान रखा गया है। (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह। ये दूसरोंसे व्यवहार करनेके लिये हैं। आत्मसुधारके लिये इसी प्रकार (१) शौच, (२) सन्तोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय और (५) ईश्वरभक्ति आदि साधन माने गये। कहनेको ये छोटे-छोटे शब्द हैं, किन्तु इनका पालन कठिन है। 'कठिन' कहकर दूर हट जाना कायरता है। हमें यथाशक्ति इनकी साधना करनी चाहिये। आत्मचिन्तनद्वारा हममेंसे प्रत्येक अपनी त्रुटियोंको जाने और दृढ़तासे उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करे।

आवश्यकताओंपर नियन्त्रण

प्रत्येक व्यक्तिको निजी आवश्यकताओंको कम करना चाहिये तथा दूसरेकी सेवा-सहायताका ध्यान रखना चाहिये। स्वार्थके स्थानपर परमार्थ; अपनेके स्थानपर दूसरेकी आवश्यकताओंका ध्यान रखना चाहिये।

हमलोग तुच्छ स्वार्थोंको अपना ध्येय मानकर अनर्थ करते रहे हैं। 'अमुक वस्तु मुझे चाहिये, मुझे सबसे अधिक हिस्सा प्राप्त हो, मैं लूँगा, दूसरेको कुछ न दूँगा। मेरी आवश्यकताएँ पहले पूर्ण होनी चाहिये'— यह दूषित विचारधारा हममेंसे प्रत्येक मानवको त्याग देनी चाहिये। हमें स्वार्थके स्थानपर दूसरोंके प्रति आत्मीयताकी भावनाएँ विकसित करनी चाहिये।

दूरकी न सोचनेवाला लालची नष्ट हो जाता है और जो यह कहता है कि 'मुझे नहीं चाहिये आप लीजिये—उसे प्रकृतिके कोष तथा भगवान्‌के भण्डारसे बहुत मिलता है। जिसे न्याय और अन्यायका ज्ञान है, जो लेनेयोग्य और न लेनेयोग्यका भेद समझता है, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषका

उन्नतिका अधिक ध्यान रखनेका सुनहरा नियम आज जगत्‌में व्याप्त बेचैनी, पीड़ा, छीना-झपटी और युद्धको दूर कर सकता है। 'मैं लूँगा' के स्थानपर 'आप लीजिये' वह महामन्त्र है, जो विश्वमें शान्ति स्थापित कर सकता है।

पारस्परिक सद्‌भाव

मित्रो! प्रभुने मनुष्यको इसलिये इस आनन्दमयी सृष्टिमें नहीं भेजा कि वे आपसमें लड़ें-झगड़ें, छीना-झपटी करें, शोषण-कर्म, दण्ड, अत्याचार, दुःख, बेचैनी और पीड़ामें फँसें, रक्तकी होली खेलें। हम बालकोंका यह दुष्कर्म देखकर परमपिता परमेश्वरको बहुत मनःक्लेश होता है। अतः यह उलटी चाल छोड़कर दूसरोंकी सुख-सुविधाका खूब ध्यान रखना चाहिये। परमात्माको प्रसन्न करनेकी सबसे सीधी चाल यह है कि प्रत्येक व्यक्ति 'मुझे नहीं चाहिये, आप लीजिये' की निःस्वार्थ नीतिको ग्रहण करे। इस नीतिकी शिक्षा स्वयं अपने जीवनमें उतारें और पड़ोसियोंको दें। जहाँतक सम्भव हो प्रेम, न्याय, भ्रातृ-भावका दिव्य सन्देश पहुँचाना चाहिये। सबको सुखी बनाकर सुखी भविष्यकी आशा और आश्वासन दिलाना चाहिये।

दूसरोंके प्रति शुभ भावनाएँ

हमें चाहिये कि दूसरोंके विषयमें बुरे या दुर्बल विचार त्यागकर सदा सद्‌भाव बनाये रखें और उन्हें बढ़ावें। हमें उनके प्रति वही व्यवहार करना चाहिये, जो हम अपने प्रति उनसे कराना चाहते हैं। हमारी आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक उन्नतिमें दूसरोंके प्रति किये गये अत्याचार, दुष्टता, धोखेबाजी, लूट, कालाबाजारी, चोरी इत्यादि बाधक हैं। हमारा दुष्कर्म कभी छिप नहीं सकता। हम दुनियाकी आँखोंमें धूल झोंककर, झूठ बोलकर अथवा धोखा देकर रिश्वत, पक्षपात या भ्रष्टाचारसे ऊँचे उठ भी जाते हैं, पर अन्तर्यामी भगवान्‌से हम कुछ भी छिपाकर नहीं रख सकते और यहाँ भी कुछ समयमें हमारी कलई अवश्य खुल जायगी। वास्तविकता प्रकट होनेपर जो आत्मग्लानिकी

घर ढूँढ़ती-ढूँढ़ती लक्ष्मी स्वयं उनके पास पहुँच जाती है। उदार दृष्टिकोणवाला प्रेमी व्यक्ति दूसरोंको भी अपना समझता है, उनसे प्रेमपूर्ण उदार व्यवहार करता है—ये भावनाएँ उसकी सुख-समृद्धिका कारण हैं। आत्मीयताकी भावनाएँ मनमें होनेके कारण वह थोड़ेमें ही गुजारा कर लेता है और कहता है—बस, मेरे लिये इतना ही पर्याप्त है, मुझे और कुछ नहीं चाहिये।'

'मुझे नहीं चाहिये, आप लीजिये'—यह नीति ऐसी है, जिसके आधारपर मानवताकी रक्षा और विकास हो सकता है, इस नीतिका पुराना महत्त्वपूर्ण इतिहास है। एक दृष्टिपात कीजिये—

'मैं लूँगा, आपको न दूँगा'—इस नीतिका पालन रामायणयुगमें कैकेयीके द्वारा हुआ था, इस स्वार्थमयी नीतिके कारण सम्पूर्ण अयोध्या नरकधाम बन गयी थी। दशरथने प्राण त्याग दिये थे; रामको चौदह वर्षका वनवास मिला था। किन्तु जब भरतने 'मुझे नहीं चाहिये, आप लीजिये' की नीति अपनायी, तब दूसरे ही दृश्य उपस्थित हो गये थे! रामने राज्याधिकारको त्यागते हुए भरतसे कहा—'बन्धु! तुम्हें राज्यका सुख प्राप्त हो; मुझे यह नहीं चाहिये।' सीतादेवीने कहा—'नाथ! यह राज्य-भवन मुझे नहीं चाहिये, मैं तो आपके साथ रहूँगी।' सुमित्राने लक्ष्मणसे निर्देश किया—'यदि सीताजी रामचन्द्रजीके साथ वनमें जा रही हैं, तो हे पुत्र! उनकी सेवाके लिये तुम भी वनमें जाओ!' भरतने इस नीतिको और भी सुन्दर रीतिसे चरितार्थ किया। उन्होंने राजपाटको लात मारी और भाईके चरणोंमें लिपटकर वे बालकोंकी तरह रोने लगे। वे बोले—'भाई! मुझे राज्य नहीं चाहिये। राजपाट मेरे लिये नहीं है; इसे तो आप ले लीजिये।'

मानवरत्न श्रीरामने कहा—'भरत! मेरे लिये तो वनवास ही श्रेष्ठ है। राज्यका सुख तुम भोगो।'

ऊपरके प्रसंगमें हमें दूसरोंके लिये आत्मबलिदान करनेके अनेक भव्य उदाहरण मिल जाते हैं। यह त्यागका, दूसरोंकी सुख-सुविधा,

पीड़ा सहन करनी पड़ती है, उसकी कसक सैकड़ों बिच्छुओंकी काटी हुई पीड़ासे भी अधिक है। अतः अपाहिज, दीन, शोषित, दुःखी, कोढ़ी, पीड़ित, पद-दलित, पशु-पक्षी, जगत्-वनस्पति—किसीके प्रति भी कभी भी निर्दयता नहीं करनी चाहिये।

सहानुभूति और दया

जुल्म और निर्दयता पशुत्व है। बेरहमीका बर्ताव करना मनुष्यको किसी प्रकार भी शोभा नहीं देता। जुल्म करना तो उन दानवोंका दुष्कर्म है, जिन्हें उचित-अनुचित तथा भलाई-बुराईका विवेक नहीं होता। आप मानव हैं। बुद्धि, विवेक, विद्या, सदाचारके ज्योतिर्मय पिण्ड हैं। क्या आप दूसरोंपर जुल्मकर असुरोंकी कोटिमें जाना पसन्द करेंगे ? कदापि नहीं। यह दुष्कर्म, यह अन्याय, अनाचार, बेईमानी, धोखेबाजी, चोरी आप कदापि नहीं करेंगे। यह आपके योग्य काम नहीं है। आप मनुष्य होकर शोषण नहीं कर सकते। आप किसी मानवके प्रति अन्यायी नहीं हो सकते। भारतकी निरक्षर, पिछड़ी-पीड़ित और मिथ्या विश्वासमें पिसनेवाली जनताको जाग्रत्, समुन्नत, सुशिक्षित करनेमें ही आपकी शक्तियोंका उपयोग होना चाहिये।

सद्व्यवहार करना शोभनीय है

मनुष्य अपने सद्व्यवहारोंसे देवता बन जाय या मानवसे दानव। हमारे पूर्वपुरुषों, ऋषियों-मुनियोंने सद्व्यवहार, उदारता, प्रेम, मित्रता, परस्पर उचित सहकार और सहानुभूतिको मानवताके महत्त्वपूर्ण अंग माना है। मनुष्य यदि सच्चे मानवका जीवन जीना चाहे तो उसे मानवधर्मका आश्रय लेना ही पड़ेगा।

सत्संगति

सत्संग मानव-धर्मका एक आवश्यक गुण है। जो सत्य है, उसकी ओर आकृष्ट होनेसे; उत्तमोत्तम विचारों, मन्तव्यों, धारणाओंवाले ज्ञानी, महात्माओं, विद्वानों, सद्ग्रन्थोंका संग करनेसे हमारे बुरे विचारों एवं वासनाओंका नाश होता है। और शुभ संस्कार पड़ते हैं। चाहे कुछ

कालतक सत्संगका प्रभाव प्रकट न हो, किन्तु थोड़े दिनों पश्चात् मानवोचित शुभ संस्कार प्रकट होने लगते हैं। सत्संगसे अज्ञान और अविवेकका क्षय होता है।

गुणग्राहिता चाहिये

आज स्वार्थके स्थानपर दूसरोंके गुणोंके प्रति प्रीति तथा गुणग्राहिताको विकसित करनेकी अतीव आवश्यकता है। यदि हम दूसरेके उन्नत गुणोंकी प्रतिष्ठा करेंगे, उनके सद्‌गुणोंकी प्रशंसा करेंगे तो मित्रभाव, सौहार्द, बन्धुत्वकी शुभ भावनाओंकी वृद्धि होगी, संसार प्रेम-सम्बन्धोंसे परिपूर्ण होकर शत्रुभावसे मुक्त हो जायगा।

श्रद्धा

श्रद्धा मानवीय हृदयका मेरुदण्ड है। हमें श्रद्धाभावकी निरन्तर अभिवृद्धि करते रहना चाहिये। जो अपनेसे विद्या, आयु, बुद्धिमें बड़े हैं, उनके प्रति हमें श्रद्धा-भाव रखना चाहिये। विद्यार्थीसमुदायको गुरुजनोंकी प्रतिष्ठा, मान एवं गुरुत्वका सदैव ध्यान रखना चाहिये। शास्त्रोंकी उक्ति है—'**आचार्यदेवो भव**' अर्थात् गुरु देवताओंके समान श्रद्धाका पात्र है। वृद्धजनोंके प्रति भी श्रद्धालु होनेकी परम आवश्यकता है। 'श्रद्धाका दूसरा अर्थ है भगवान्‌में, सन्तोंमें तथा उनकी वाणीमें श्रद्धा।' यह भी अवश्य चाहिये।

ईश्वरभक्ति

मनुष्यके विकासमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान ईश्वरभक्तिका है। मनुष्यमें स्वयं ईश्वरका निवास है। हम अपना जितना निकट सम्बन्ध परमात्मासे लगाते हैं, ईश्वरको सम्मुख एवं सदा हमारे साथ रहनेवाला समझकर कार्य करते हैं, उतना ही हमारी मानवताका विकास होता है। सिर्फ मानव-मूर्तियोंमें ही नहीं, जीवमात्रमें ईश्वरकी परछाईं देखकर उनकी सेवा, उपकार, विकासके कार्यमें प्रवृत्त होनेसे हम मानवताकी सेवा करते हैं।

पापसे छूटनेके उपाय

पाप प्राय: तीन प्रकारके होते हैं। मनसे दूसरेका अहित सोचना, वचनसे दूसरेके प्रति कुशब्दोंका उच्चारण कर देना तथा शरीरसे दूसरेको किसी प्रकारकी हानि पहुँचा देना। पाप किसी प्रकारका हो, अपने मनमें अशान्ति उत्पन्न करता है। मनुष्य अन्दर-ही-अन्दर घबराता है। मनुष्य अपने पापको जबतक मनमें छिपाये रहता है, तबतक आत्मग्लानिका शिकार रहता है।

मनुष्यमें कई व्यक्तित्व हैं। उच्च पवित्र व्यक्तित्व है जिसे आध्यात्मिक व्यक्तित्व कह सकते हैं। आध्यात्मिक व्यक्तित्व सांसारिक संकीर्णताओंसे परे है। इसका रूप सूक्ष्म और विशाल है। द्वेष-ईर्ष्यारहित है। यह सांसारिक विषय-वासनाओंपर नियन्त्रण करनेवाला है। मनुष्य जब पाप करता है तो उसका वही आध्यात्मिक व्यक्तित्व कचोटता है। बुरा-बुरा कहता है, इसलिये पाप और विकारमय व्यक्तित्व डरता रहता है। मन सदा बेचैन बना रहता है। आध्यात्मिक व्यक्तित्वकी सजा मनुष्य अन्दर-ही-अन्दर भुगतता रहता है। उसके अंकुशकी पैनी मार उसे व्यथित किया करती है। कोलरिज नामक एक अंग्रेजीके कविने काव्यमें एक अपराधीकी कहानी लिखी है। वह एक जहाजपर सफर कर रहा था। उस जहाजपर एक चिड़िया रहती थी। वह चारों ओर उड़कर फिर वापिस जहाजपर आ जाया करती थी। एक दिन उसे न जाने क्या सूझी कि वह अपनी तीर-कमान लाया और उसने चिड़ियाका वध कर डाला। चिड़ियाका मरना था कि उसका मन पापकी अकथित गुप्त वेदनासे भर गया। 'मैंने बड़ा बुरा कर्म किया है। मैं कैसे इससे मुक्त होऊँ?' वह भारी मन किये इधर-उधर उद्विग्न फिरता रहा। उस पापकी भावनाने उसे पागल-सा बना दिया। उसके लिये इस पापकी वेदनाका भार असह्य हो गया। जब उससे न रहा

करना—जैसे भोजनके लिये चिड़ियों, मछलियों इत्यादिको मारना, (१४) ईंधनके लिये हरे वृक्षको काट डालना। वृक्षमें जीव है। हरा वृक्ष काट डालना एक प्रकारसे हत्या करनेके समान ही है। (१५) अभक्ष्य पदार्थोंको खाना। मांस, मदिरा, प्याज, लहसुन, अण्डा इत्यादि खानेसे बुद्धि विकारमय होती है और पापमें प्रवृत्ति होती है। अतः सदा सात्त्विक आहार ही खाना चाहिये, (१६) अग्निहोत्र न करना, (१७) अपने ऊपर चढ़ा हुआ कर्ज न चुकाना, (१८) गन्दी पुस्तकें पढ़ना। इससे मनुष्य मानसिक व्यभिचारकी ओर अग्रसर होता है, खुराफातोंसे मन भर जाता है। मनके समस्त पाप इस प्रकारके कुचिन्तनसे ही प्रारम्भ होते हैं। परद्रव्य, परस्त्री, परायी वस्तुओंको लेनेकी इच्छा, व्यर्थका अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष आदि सब कुचिन्तनके ही पाप हैं। मनमें अनिष्ट-चिन्तन होनेसे मनुष्य वाणीसे पाप करता है, असत्य-भाषण, चुगली, असम्बद्ध प्रलाप और कठोरताभरी वाणी बोलता है, इसी प्रकार शरीरसे होनेवाले अनेक पाप हैं— जैसे हिंसा, परदारासेवन, दूसरेकी वस्तुओंपर बलपूर्वक अधिकार आदि। इनमेंसे प्रत्येककी उत्पत्ति तब होती है, जब मनुष्यके मनमें कुविचारका जन्म होता है। बीजमें वृक्षकी तरह शरीरमें वासनाएँ छिपी रहती हैं। तनिक-सा प्रोत्साहन पाकर ये उद्दीप्त हो उठती हैं और गन्दगीकी ओर प्रेरित करती हैं। मनके गुप्त प्रदेशमें छिपी हुई ये गन्दी वासनाएँ ही हमारे गुप्त शत्रु हैं। वासना बन्धनका, नाशका, पतनका और अवनतिका प्रधान कारण है। कामवासनाएँ अठारह वर्षकी आयुसे उत्पात मचाना प्रारम्भ करती हैं और ४५ वर्षकी आयुतक भयंकर द्वन्द्व मचाती रहती हैं, दुष्कर्मकी ओर प्रवृत्त करती हैं। विवेकी पुरुषको वासनाकी भयंकरतासे सदा सावधान रहना चाहिये। वासना ही सांसारिक चिन्ताओंको उत्पन्न करनेवाली विभीषिका है।

पापसे कैसे बचें?

अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त पापोंसे छुटकारा कैसे हो? पापका जन्म मनुष्यके मनमें होता है। अतः मानस-सुधार ही जड़मूल है।

मनकी स्वच्छतासे ही पापसे बचावका कार्य प्रारम्भ होना चाहिये। मनको शुद्ध सात्त्विक विचारोंसे परिपूर्ण रखना, मौन, मनोनिग्रह, सौम्यता, प्रसन्नता आदि मानसिक साधनाएँ करते रहना चाहिये। मनमें किसी प्रकारके विकारके आते ही सावधान हो जाना चाहिये। श्रीदुर्गाशंकर नागरने एक स्थानपर लिखा है—

'अच्छे या बुरे विचारोंकी धाराएँ मानसिक केन्द्रोंसे प्रसारित होकर रक्त-संचारके साथ विद्युत्-धाराके समान आती हैं और अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं—काम, क्रोध, लोभ, वासना, घृणा, भय इत्यादिकी भावनाएँ संकुचित व्यक्तित्व बनाती हैं। हमारा व्यक्तित्व प्रभावहीन और निर्बल पड़ जाता है। उसमें ऐसी मानसिक उलझनें पड़ जाती हैं कि वह जीवनको शान्त और आनन्दमय नहीं बना सकता। मानसिक अशान्ति, उलझन और व्यथाका कारण यह है कि हम अपने भीतर नहीं देखते।' अतः मनके भीतरसे विकारको दूर करना चाहिये।

वाणीसे पाप न कीजिये अर्थात् उद्वेग करनेवाला कुसत्य मत बोलिये, प्रिय और हितकारक भाषण कीजिये। अच्छी पुस्तकोंका स्वाध्याय कीजिये, आत्माको प्रिय और आत्माके आदेशके अनुकूल कर्मका अभ्यास करते रहिये।

शरीरके पापोंसे मुक्तिके लिये पहले स्नानद्वारा शुद्धता प्राप्त कीजिये। स्वच्छ वस्त्र धारण कीजिये। ब्रह्मचर्यका अभ्यास, सरलता अर्थात् आडम्बरशून्यता, अहिंसा, देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा विद्वानोंकी पूजा शरीरके पापोंसे मुक्तिके अमोघ उपाय हैं। इन सबकी प्राप्ति इन्द्रियोंके संयमसे अनायास ही हो जाती है। कहा भी है—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

(गीता ५। २८)

अर्थात् इन्द्रिय, मन और बुद्धिको संयममें रखनेवाला मुनि मोक्षपरायण होता है। इच्छा, भय और क्रोधसे मुक्त होकर वह

जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें विचरता है।

ख्यापनेनानुतापेन तपसाध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात् तथा दानेन चापदि॥

(मनु० ११। २२७)

पाप करनेवाला व्यक्ति यदि चाहे तो १—दुःखी होकर अपना पाप लोगोंमें प्रकट करनेसे, २—सच्चा पश्चात्ताप करनेसे, ३—सद्ग्रन्थोंके अध्ययनसे, ४—तपश्चर्यासे पाप-मुक्त हो सकता है। जैसे-जैसे उसका मन पापकी निन्दा करता है और सद्विचार तथा आत्मध्वनिके प्रभावमें आता है, वैसे-वैसे वह पापसे छूटता जाता है। भविष्यमें किसी प्रकारका भी पाप न करनेका दृढ़-संकल्प और उसका अभ्यास पाप-मुक्तिका साधन है।

पापोंके प्रतीकारके लिये झींके नहीं, सत्कर्म करे!

'स नो मुञ्चत्वंहसः' (अथर्ववेद ४। २३। १)

'वह ईश्वर हमें पापसे मुक्त करे।'

'पाप एक वृक्षके समान है, उसका बीज है लोभ। मोह उसकी जड़ है। असत्य उसका तना और माया उसकी शाखाओंका विस्तार है। दम्भ और कुटिलता पत्ते हैं, कुबुद्धि फूल है और नृशंसता उसकी गन्ध तथा अज्ञान फल है। छल, पाखण्ड, चोरी, ईर्ष्या, क्रूरता, कूटनीति और पापाचारसे युक्त प्राणी उस मोह-मूलक वृक्षके पक्षी हैं, जो मायारूपी शाखाओंपर बसेरा लेते हैं। अज्ञान उस वृक्षका फल है और अधर्मको उसका रस बतलाया गया है। तृष्णारूपी जलसे सींचनेपर उसकी वृद्धि होती है। अश्रद्धा उसके फूलने-फलनेकी ऋतु है। जो मनुष्य उस वृक्षकी छायाका आश्रय लेकर सन्तुष्ट रहता है, उसके पके हुए फलोंको खाता है और उन फलोंके अधर्मरूप रससे पुष्ट होता है, वह ऊपरसे कितना ही प्रसन्न क्यों न हो, वास्तवमें पतनकी ओर ही जाता है। इसलिये पुरुषोंको चिन्ता छोड़कर लोभका त्याग कर देना चाहिये। स्त्री, पुत्र और धनकी चिन्ता तो कभी करनी ही नहीं चाहिये। कितने ही विद्वान् भी मूर्खोंके मार्गका अवलम्बन करते हैं। कितने दिन-रात मोहमें डूबे रहकर निरन्तर इसी चिन्तामें पड़े रहते हैं कि किस प्रकार मुझे अच्छी स्त्री मिले और कैसे मैं बहुत-से पुत्र प्राप्त करूँ?'

चाहे आप किसी अत्यन्त एकान्त गुफामें कोई पापकर्म, असुन्दर कृत्य, घृणास्पद काम कर लें, रात्रिके गहन अन्धकारमें उसे छिपानेका प्रयत्न करें, किंतु विश्वास रखिये, पाप ऐसा कुटिल है कि वह स्वयं पुकार-पुकारकर अपना ढोल पीटता है। आपके पैरोंके नीचेकी घास खड़ी होकर आपके पापके विरुद्ध साक्षी देगी; आपके इर्द-गिर्द खड़े

हुए वृक्ष भी जिह्वा खोलकर आपके विरुद्ध कहेंगे, उनके पत्ते-पत्ते उद्‌बोधन कर उठेंगे कि आप प्रकृतिको, इस कुदरतको धोखा नहीं दे सकते।

प्रकृतिके, परमेश्वरके, उस जगत्-नियन्ताके पापकर्मको देखकर सजा देनेके लिये सहस्रों नेत्र, असंख्य कान तथा अनगिनत हाथ हैं। वह दिन-रात चौबीसों घण्टे आपकी विभिन्न लीलाएँ-मुद्राएँ निहारा करता है और आपको पापसे बचनेकी प्रेरणा दिया करता है। पापकी सजा अवश्य मिलती है। ईश्वर दुष्कर्मकी सजा देनेमें किसीसे रू-रियायत नहीं करता!

पाप एक ऐसी घृणित दुष्प्रवृत्ति है, जो नाना रूपों, आकृतियों और अवस्थाओंमें मनुष्यपर आक्रमण किया करती है और जिससे सावधान रहनेकी बड़ी आवश्यकता है। कहते हैं, मनुष्यके दिव्य मनके किसी अज्ञात कोनेमें मैल और कूड़े-करकटकी तरह शैतानका भी निवास है। जहाँ पुष्पोंसे सुरभित काननका सुन्दर स्थल है, वहाँ काँटोंसे भरे बीहड़ वन भी हैं। जहाँ सद्ज्ञानका दिव्य प्रकाश है, वहीं कहीं-कहीं घनघोर अन्धकार भी है। यही अन्धकार पापकी ओर प्रवृत्त कर मनुष्यके अध:पतनका कारण बनता है।

पापकी ओर खींचनेवाला मनुष्यका अज्ञान है। क्षणिक वासना या थोड़े लाभके अन्धकारमें उसे उचित-अनुचितका विवेक नहीं रहता; वह अपना स्थायी लाभ नहीं देख पाता और किसी-न-किसी पतनके ढालू मार्गपर आरूढ़ हो जाता है।

पाप पशुत्व है। मनुष्यके शरीर, मन और आत्माका मैल है। दु:खदायी नरकमें ले जानेवाला दैत्य है। वास्तवमें पापका प्रयोजन यह है कि इसके द्वारा मनुष्यकी परीक्षा होती रहे और इन प्रलोभनोंको पार कर वह स्थायी कीर्तिका अर्जन करे।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, असन्तोष, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा—मनुष्यमें रहनेवाले ये बारह दोष

तनिक-सा अनुकूल प्रोत्साहन पाते ही घास-कूड़ेकी भाँति उत्तरोत्तर बढ़ने लगते हैं और वर्षोंकी कीर्तिको क्षय कर डालते हैं। सावधान!

मुनि सनत्सुजातके अनुसार, 'जैसे व्याघ्र मृगोंको मारनेका अवसर देखता हुआ उनकी टोहमें लगा रहता है, उसी प्रकार हमारे समस्त विकार मनुष्योंके छिद्र (कमजोर स्थल) को देखकर आक्रमण करते हैं।'

अपनी बहुत बड़ाई करनेवाला, लोलुप, अहंकारी, क्रोधी, चंचल और आश्रितोंकी रक्षा न करनेवाला—ये छः प्रकारके मनुष्य पापी हैं। महान् संकटमें पड़नेपर भी ये निडर होकर इन पाप-कर्मोंका आचरण करते हैं। कामवासनाकी तृप्ति अथवा सम्भोगमें ही मन रखनेवाला, विषमता रखनेवाला, अत्यन्त भारी दान देकर पश्चात्ताप करनेवाला, कंजूस, कामकी प्रशंसा करनेवाला तथा स्त्रियोंका द्वेषी—ये सात और पहलेके १३ प्रकारके मनुष्य 'नृशंस' वर्गके कहे गये हैं। इनसे सदा सावधान रहकर पवित्र कर्म करने चाहिये।

मनुष्य प्राय: तीन अंगोंसे पापमें प्रवृत्त होता है—शरीर, वाणी और मन। इनके द्वारा किये गये पाप-कर्मोंके नाना रूप हो सकते हैं, विभिन्न अवस्थाएँ और स्तर हो सकते हैं। इनमेंसे प्रत्येकका दुरुपयोग हमारा अध:पतन करनेमें समर्थ है। तीनों प्रकारके पाप-कर्मोंसे बचे रहें अर्थात् शरीर, मन और वाणीका उपभोग करते हुए बड़े सचेत रहें। कहीं ऐसा न हो कि आत्मसंयममें शिथिलता आ जाय और पापपथपर पग बढ़ जाय। प्राय: हमें स्वयं विदित नहीं होता कि कब हम गलत रास्तेपर चले गये हैं। गुपचुप रूपमें पाप हमें बहा ले जाता है और हमें अपनी शोचनीय अवस्थाका ज्ञान तब होता है जब हम पतित हो चुके होते हैं।

शरीरद्वारा किये गये पापोंमें वे समस्त दुष्कृत्य सम्मिलित हैं, जिन्हें करनेसे ईश्वरके मन्दिररूप इस मानव-शरीरका क्षय होता है। कंचनतुल्य कायामें नाना रोग उत्पन्न होते हैं, जिनसे जीवित अवस्थामें ही मनुष्यको कुत्सित कर्मकी यन्त्रणाएँ भोगनी होती हैं।

हिंसा प्रथम कायिक पाप है। आप शरीरसे सशक्त हैं, तो अपने शरीरके अनुचित प्रयोगद्वारा पाप करते हैं। मद, द्वेष, ईर्ष्या आदिकी क्षणिक उत्तेजनामें आकर निर्बलोंको दबाना, मारपीट या हत्या करना अपने जीवनको गहन अवसादसे भर लेना है। हिंसककी आत्मा मर जाती है। इसे उचित-अनुचितका विवेक नहीं रहता, उसकी मुखमुद्रासे दानव-जैसे क्रोध, घृणा और द्वेषकी अग्नि निकला करती है।

हिंसक पशुकी कोटिका व्यक्ति है। उसके मानवोचित गुण क्षय होकर राक्षसी वृत्तियाँ उत्तेजित हो उठती हैं। बलके मदमें वह अपने स्वार्थ, आराम और वासना-पूर्तिके लिये काम करता है। उसे मरनेके बाद पशुकी योनि प्राप्त होती है और उसका मरणोत्तर जीवन सदा अशान्त बना रहता है।

हिंसाका तात्पर्य केवल यही नहीं कि आप किसीके शरीरको ही चोट पहुँचायें, मारें, पीटें ही; दूसरेके हृदयको किसी प्रकारका आघात पहुँचाना, कटु या व्यंग वचनका उच्चारण, गाली-गलौज आदि भी हिंसाके नाना प्रचलित रूप हैं। श्रेष्ठ व्यक्तिको सदा इनसे बचना चाहिये। इनसे शक्ति-क्षय होता है। उत्तम तो यह है कि आपकी शक्तियोंका सदुपयोग हो। वे श्रेष्ठ कर्मोंमें लगें। दूसरोंकी सेवा और उपकार हो। आपका जीवन सदा सबके लिये हितकारी हो, सेवामय हो, आस-पासके व्यक्ति आपसे उत्तम कल्याणमय प्रेरणाएँ प्राप्त करें, आप मृदु वचनोंका उच्चारण करें! श्रेष्ठ आचरण करेंगे तो आपका जीवन सुख-शान्तिमय होगा।

चोरी करना, दूसरेका माल हड़प कर लेना, बरबस दूसरेपर अधिकार कर लेना आदि भी कायिक पाप हैं। चोरीका अर्थ भी बड़ा व्यापक है। डकैती, रिश्वत, कालाबाजारी, झूठ बोलकर ठगना आदि तो स्थूलरूपमें चोरीके रूप हैं ही, पूरा पैसा लेकर अपना कार्य पूरी दिलचस्पीसे न करना, नौकरीमें शिथिलता या किसी अनुचित रीतिसे रुपया ठगना भी चोरीके ही नाना रूप हैं। किसीको धन, सहायता या

वस्तु देनेका आश्वासन देकर बादमें सहायता प्रदान न करना भी चोरीका ही एक रूप है। अतः अनिष्टकारी एवं त्याज्य है।

व्यभिचार मानवताका सबसे घिनौना और निकृष्टतम कायिक पाप है। ऐसे व्यक्ति नरकके अधिकारी हैं। जो व्यक्ति व्यभिचार-जैसे निन्द्य पाप-पंकमें डूबे हैं, वे मानवताके लिये कलंकरूप हैं। आये दिन समाजमें इस पापकी शर्मानेवाली गन्दी कहानियाँ और दुर्घटनाएँ सुननेमें आती हैं। यह ऐसा निकृष्ट पाप है, जिसमें प्रवृत्ति होनेसे बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं, अमीरोंसे लेकर असंख्य साधारण गृहस्थोंका नाश हुआ है। इससे ईश्वररूप हमारी आत्माको बड़ा दुःख होता है। मनुष्य आत्मग्लानि-जैसे रोगका शिकार बन जाता है, जिससे आत्महत्या-जैसी दुष्प्रवृत्ति जाग्रत् होती है। पारिवारिक सौख्य, बाल-बच्चों एवं पत्नीका पवित्र प्रेम और समृद्धि नष्ट हो जाती है। सर्वत्र एक काला अन्धकार मन, वाणी और शरीरपर छा जाता है।

शरीरमें व्यभिचारजनित रोगोंकी संख्या सर्वाधिक है। अप्राकृतिक तथा अति वीर्यपातसे मूत्रनलिकासम्बन्धी अनेक ऐसे गुप्त रोग उत्पन्न होते हैं, जिन्हें न डॉक्टर ठीक कर सकता है, न रुपया-पैसा इत्यादि ही सहायक हो सकता है। वेश्या-गमनके पापसे मानव-शरीर अशक्त हो जाता है और स्थायीरूपसे निर्बलता, सिरदर्दी, बदहजमी, रीढ़का दुःखना, मिरगी, नेत्रोंकी कमजोरी, हृदयकी धड़कन, बहुमूत्र, पक्षाघात, प्रमेह, नपुंसकता और पागलपन आदि शारीरिक रोग उत्पन्न होकर जीवितावस्थामें ही नरकके दर्शन करा देते हैं। व्यभिचारके दोनों रूप पर-स्त्रीगमन तथा पर-पुरुष-गमन त्याज्य हैं। सावधान! यह मनमें चिन्ता, अधैर्य, अविश्वास, ग्लानि आदिकी सृष्टि करनेवाला महाराक्षस है। यह पाप समाजसे चोरी-चोरी किया जाता है। अतः मन छल, कपट, मूर्खता, मायाचार, प्रपंच आदिसे भर जाता है। ये कुवासनाएँ कुछ समय लगातार प्रविष्ट होनेसे अन्तर्मनमें गुप्त मानसिक ग्रन्थियोंकी सृष्टि कर देती हैं। ऐसे व्यक्तियोंमें यौवन-सम्बन्धी बातोंमें निरन्तर

दिलचस्पी, गन्दे शब्दोंका प्रयोग, बात-बातमें गाली देना, गुह्य अंगोंका पुनः-पुन स्पर्श, परायी स्त्रियोंको पापमय कुदृष्टिसे देखना, मनमें गन्दे विचारों, पापमयी कल्पनाओंके कारण खींचतान, अस्थिरता, आकर्षण-विकर्षण आदि मनःसंघर्ष निरन्तर चलते रहते हैं। यही कारण है कि विकारी पुरुष प्रायः चोर, निर्लज्ज, दुःसाहसी, कायर, झूठे और ठग होते हैं, अपने व्यापार तथा व्यवहारमें समय-समयपर अपनी इस कुप्रवृत्तिका परिचय देते रहते हैं। लोगोंके मनोंमें उनके लिये विश्वास, प्रतिष्ठा और आदरकी भावना नहीं रहती, समाजसे उन्हें सच्चा सहयोग प्राप्त नहीं होता और फलस्वरूप जीवन-विकासके महत्त्वपूर्ण मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं।

व्यभिचारीकी मनःस्थिति अशान्त, सलज्ज, दुःखपूर्ण होती है। उसमें द्वन्द्व चलता रहता है और उसका अन्तःकरण कलुषित हो जाता है। मनुष्यकी प्रतिष्ठा एवं विश्वस्तता स्वयं अपनी ही दृष्टिमें कम हो जाती है। प्रत्येक क्षेत्रमें सच्ची मैत्री या सहयोग-भावनाका अभाव मिलता है। ये सब मानसिक दुःख नरककी दारुण यातनाके समान कष्टकर हैं। व्यभिचारीको अपने कुकर्मोंके दुष्परिणाम रोग-व्याधि, सामाजिक बहिष्कार आदिके रूपमें इसी जीवनमें भुगतने पड़ते हैं।

मनमें पापमय विचार रखना घातक है। आपका मन तो निर्मल शुद्ध देव-मन्दिरस्वरूप होना चाहिये। काम, क्रोध, लोभ, मोह, असन्तोष, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, चिन्ता आदि वे दुष्ट मनोभाव हैं, जो मनुष्यका प्रत्यक्ष नाश करनेवाले हैं।

महर्षि जैमिनिके अनुसार जो द्विज लोभसे मोहित हो पावन ब्राह्मणत्वका परित्याग कर कुकर्मसे जीविका चलाते हैं वे नरकगामी होते हैं।

जो नास्तिक हैं, जिन्होंने धर्मकी मर्यादा भंग की है, जो कामभोगके लिये उत्कण्ठित, दाम्भिक और कृतघ्न हैं, जो ब्राह्मणोंको धन देनेकी प्रतिज्ञा करके भी नहीं देते, चुगली खाते, अभिमान रखते और झूठ

हैं; तो हृदयमें एक गुपचुप पीड़ाका अनुभव होता रहता है। हमारे मनका दिव्य भाग हमें प्रताड़ित करता रहता है, बुरा-बुरा कहता रहता है। इस आत्मभर्त्सनासे मनुष्य पश्चात्ताप करनेकी बात सोचता है। निष्कर्ष यह है कि पाप और दोषकी प्रवृत्ति हर दृष्टिसे बुरी और त्याज्य है।

यों तो किसी-न-किसी दोषसे हम सभी परिपूर्ण हैं; किन्तु दोषमुक्त होना हम सबका धर्म है। जो व्यक्ति जितने अंशोमें दोषमुक्त है, उतने ही अंशोंमें दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ और उच्चतर है। ईश्वरके दिव्य अंश होनेके कारण हमें हर प्रकारके दोषसे सदा-सर्वदा मुक्त रहना चाहिये। निरन्तर अपने मन, वचन तथा कार्योंद्वारा हर प्रकारके दोषोंसे मुक्त रहनेका प्रयत्न करना चाहिये।

जनसाधारणका यह गलत विश्वास है कि पापका प्रतीकार सजा है। जिसने अपराध किया है, उसे सजा मिलनी चाहिये; उसपर जुर्माना हो या शारीरिक दण्ड दिया जाय। ऐसा करनेसे पुनः पापमें प्रवृत्ति नहीं होगी; मारने-पीटने, कोड़े लगानेसे लोग चोरी, झूठ, रिश्वत, पापाचारसे मुक्त हो जायँगे, ये सब थोथी दलीलें हैं। जबतक अपराधी या पापीके गुप्त मनसे पापके प्रति स्वयं ग्लानि उत्पन्न नहीं होती, तबतक उसका सुधार सम्भव नहीं है। अपराधियोंको सहानुभूति, प्रेम तथा उचित मानसिक चिकित्साद्वारा सुधारना चाहिये।

सच्चे मनसे प्रायश्चित्तके द्वारा भी पापका शमन हो सकता है। प्रायश्चित्तकी योजना बनाते समय हमें एक क्षण भी यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि हम सब सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्माके दिव्य अंश हैं। इसलिये परमेश्वरके सब दिव्य गुण बीजरूपमें हमारे गुप्त मनमें विद्यमान हैं। हमारा निकट सम्बन्ध इस अच्छाईसे है। हमें अपने इन्हीं दिव्य गुणोंको विकसित करनेका सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये। अपने सद्गुणोंके विकासद्वारा ही हम दोषमुक्त हो सकते हैं। सर्वोत्तम प्रायश्चित्त वह है, जिसमें मनुष्यकी पाप-प्रवृत्तियाँ फीकी पड़कर सद्गुणों तथा उच्चतर गुणोंका विकास होता है।

गलतीकी दुरुस्ती आन्तरिक मनसे होनी चाहिये। ऊपरी ताड़नासे

वह थोड़ी देरके लिये दब जायगी। जब उसे दबा दिया जाता है, तब अवसर पाते ही वह फोड़ेमें पीबकी भाँति फूट निकलती है और पतन भी बुरा होता है। अत: मनमें अच्छी तरह बैठा लेना चाहिये कि पाप बुरा है और हमारा उससे कोई निकट सम्बन्ध नहीं है।

प्रत्येक पापका प्रतीकार पुण्यसे होता है। प्रायश्चित्त करनेके दो ढंग हैं—१—आत्मभर्त्सना, अर्थात् अपने किये बुरे कर्मपर हार्दिक दु:ख प्रकट करना और भविष्यमें न करनेका दृढ़ संकल्प करना। २—पुण्यकर्मों तथा शुभ विचारोंमें अपने मनको एकाग्र करना अर्थात् अपनी प्रवृत्तियोंको ऊर्ध्वगामी बनाना। यह मानसिक शक्तिका शोध एवं उदात्तीकरण है।

यदि आपसे कोई पाप जाने या अनजाने हो गया है तो उसपर हार्दिक दु:ख प्रकट कीजिये। पश्चात्ताप करना सात्त्विक मनका प्रतीक है। यह इस बातका सूचक है कि आपके अन्दर शिवत्वकी दैवी भावना निवास करती है। सच्चे पश्चात्तापकी अग्निमें आपकी समस्त गन्दी वासनाएँ दग्ध हो जायँगी और आप निर्मल सोनेके सदृश चमकने लगेंगे। किन्तु यही सुधार नहीं है। आपको अब उधरसे ध्यान छोड़ देना चाहिये। जहाँ आपकी गलती हुई थी, उसका व्यर्थ ही चिन्तन मत करते रहिये। जब गलती समझमें आ गयी, तो उस मार्गको बिलकुल त्यागकर सही मार्गपर चलना—यही पापका प्रतीकार है।

पुराने किये पापपर झींकनेकी अपेक्षा यह उत्तम है कि आप नये, उत्पादक, ऊँचे उठानेवाले पुण्यकार्योंमें लगें। समाजसेवा, श्रमदान, कलाके नाना उत्पादक क्षेत्र आपके पास पड़े हैं, जिनमें लगनेसे मानसिक शक्तिका शोध होकर दूषित वृत्तियोंका उदात्तीकरण हो जाता है। पुण्य वह कार्य है, जिससे मनुष्यकी निम्न प्रवृत्तियोंका परिष्कार होता है, अधोगामी प्रवृत्तियाँ ऊर्ध्वगामी बनती हैं और वासनाके स्थानपर शिवत्वकी जागृति होती है। पवित्र स्थानोंका निवास, सत्संग, स्वाध्याय और समाजसेवाके पवित्र कार्योंसे प्रवृत्तियाँ उच्च बनती हैं।

आनन्द एवं उल्लास प्राप्त होता है। उसकी दैवी सम्पदाएँ उत्तरोत्तर विकसित होती हैं। यह आत्मनिर्माण ही सबसे बड़ा पुण्य परमार्थ है। यह कार्य करनेपर मनुष्यके कुसंस्कार, ईर्ष्या, तृष्णा, द्रोह, क्षोभ, भय तथा वासनाएँ दग्ध हो जाती हैं। अध्यात्मवादको ग्रहण करना अपनी तुच्छता, दीनता, हीनता और दासताको त्यागकर निर्भयता, सत्यता, पवित्रता, प्रसन्नता आदि आत्मिक प्रवृत्तियोंको बढ़ाना है।

अध्यात्मवाद असत्‌से सत्‌की ओर ले जाता है। आगे बढ़नेके लिये सत्य, प्रेम और न्यायका मार्ग दिखाता है। वासनाविहीन जीवन व्यतीत करनेके लिये प्रोत्साहित करता है। आध्यात्मिक मनुष्य अन्तर्मुखी होता है। बाह्य संसारमें उसे ऐसी वस्तुएँ नहीं मिलतीं जिनमें स्थायी सुख हो। सांसारिक सुख तो अल्पकालमें ही समाप्त हो जाते हैं और उलटे दुःखका कारण बनते हैं, किन्तु जिस व्यक्तिको आध्यात्मिक सुख प्राप्त हो जाता है वह संसारकी क्षुद्रताओंमें लिप्त नहीं रहता। उसे इन्द्रियोंके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है। वह सांसारिकताकी असारताको समझ लेता है।

वैराग्यपूर्ण स्थिति

आध्यात्मिक सुख मानसिक है। संकटमें, विपद्‌में, कष्ट और कठोर प्रतिघातमें रहकर भी आत्मिक दृष्टिकोणवाले व्यक्तिका सन्तुलन नष्ट नहीं होता। वह संसारकी नाशवान् वस्तुओंसे सम्पर्क नहीं बढ़ाता, सांसारिक आपत्तियोंको स्वप्नवत् समझता है! वह तत्त्वदर्शी जानता है कि मैं अविनाशी, अच्छेद, अभेद्य आत्मा हूँ, प्रिय-अप्रिय झोंके मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। इस महासत्यको समझकर वह आत्मशान्तिको किसी प्रकार भी नष्ट नहीं होने देता। विचारोंके संशोधनके लिये तैयार रहना, सत्यकी जिज्ञासा रखना, आत्मनिरीक्षण करते रहना, दूसरोंकी मनोभूमिका ठीक तरह अनुमान, कर्तव्य-परायणता, अनासक्ति, सदा प्रसन्न रहना, वैराग्यपूर्ण मनःस्थिति—ये आत्मवादीके लक्षण हैं।

मनुष्यमें जो दैवी गुण भरे गये हैं, उन्हें पूर्ण विकसित करनेका साधन यह आत्मवाद ही है। यह हमारे उन दैवी गुणोंका विकासपथ

दिखाता है, जिससे हम संसारमें रहकर भी आदर्श और दूसरोंके लिये अनुकरणीय बन सकते हैं।

अध्यात्मवादका आशय मनुष्यके शरीरमें प्रतिष्ठित आत्माकी प्रतीति है। जो आत्माको जान लेता है, उसे जाननेके लिये कुछ भी शेष नहीं रह जाता। आत्मवादी अपनेको शरीर नहीं, आत्मा मानता है। वह दिन-रात सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिमें ही नहीं लगा रहता। उसका अधिकांश समय आत्मतत्त्व और आत्माकी सम्पदाओंको एकत्र करनेमें लगता है।

अपने-आपको आत्मा मानिये

अपने-आपको शरीर मत मानिये। शरीर तो हाड़-मांस, वासना, तृष्णा, मोहका पुलन्दा है। आप शरीर नहीं हैं। आप तो आत्मा हैं। अपने-आपको आत्मा ही मानकर कर्मक्षेत्रमें प्रविष्ट होइये। आपके मस्तिष्कमें जो विषय उठते हैं, आपके अन्तःकरणमें जो विचार जमे हुए हैं, उनका सावधानीसे निरीक्षण कीजिये और देखिये कि वे 'आत्मा' जैसे महान् तत्त्वके गौरवके अनुरूप हैं या नहीं? आत्माका सन्देश है—उच्च भूमिकामें प्रवेश तथा भ्रमण पराशक्तिसे तदाकार एवं जगत्-नियन्ता सर्वशक्तिमान् परब्रह्मकी सत्ताके पवित्र प्रदेशमें निरन्तर रमण। आप नित्य-प्रति दैनिक जीवनमें जो कार्य करते हैं, उन्हें देखकर आत्मतत्त्वकी कसौटीपर जाँचिये और विचार कीजिये कि वे परमात्माके राजकुमार (जो आप हैं) के करनेयोग्य है या नहीं? यदि आपकी अन्तरात्मा स्वीकार करे कि 'हाँ' ये विचार तथा कर्म आत्माके महान् गौरवके अनुरूप हैं, योग्य हैं, उचित हैं, तो उन्हें प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करते रहिये।

यदि आपकी अन्तरात्मा यह कहे कि अमुक विचार, अमुक कार्य, अमुक व्यवहार आत्माके महान् गौरवके अनुकूल नहीं, ओछे हैं, आत्मसम्मानके विरुद्ध हैं, तो उनका साहसपूर्वक परित्याग कर दीजिये।

आपकी आत्मा सत्य या असत्यका नीर-क्षीर करनेवाली भव्य कसौटी है। यह तुरन्त दूध-का-दूध और पानी-का-पानी कर देती है।

जिस विचार या कार्यके सम्पादनसे आपको प्रसन्नता, आनन्द या

आन्तरिक गर्वका अनुभव होता है, पुण्य तथा आत्मसन्तोष प्रतीत होता है, उसे अपनानेमें एक क्षणके लिये भी विलम्ब मत कीजिये—भले ही उसे अपनानेमें कोई सांसारिक घाटा दिखायी देता है—यही आत्मज्ञानका सीधा सच्चा मार्ग है।

'मेरे जीवनकी दैवी अवस्थाका मेरे प्रत्यक्ष जगत्में अवश्य प्रादुर्भाव होगा'—इस तत्त्वपर गहन चिन्तन कीजिये। इसे अन्त:करणके कोने-कोनेमें उतार लीजिये। इस भव्य विचारको मनमें रखनेसे आपका मन विमल सरोवरकी भाँति स्वच्छ हो जायगा, जिसपर सत्य-असत्यका प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगेगा। आपको क्रमश: आत्मज्ञानका अनुभव होगा। नये-नये उच्च विचार मनरूपी आकाशमें उदित होने लगेंगे।

हमारी आत्मा ईश्वरका प्रतिबिम्ब है। वस्तुत: उसमें वह शक्ति है जिसके प्रभावमें बुद्धि सत्पथकी ओर प्रेरित होती है। ईश्वरके अनुसार आत्माका स्वरूप है तथा आत्माका स्वरूप पूर्णताका आधार है। आत्मा मनुष्यका दिव्य केन्द्र है। आत्मतत्त्वसे स्निग्ध बुद्धिके प्रकाशसे कल्पनातीत आनन्द एवं अक्षय शान्तिकी प्राप्ति होती है।

जब मनुष्य सांसारिक आनन्दोंका मोह छोड़कर आत्माके इस दिव्य प्रदेशमें प्रविष्ट हो जाता है, तो उत्तरोत्तर उसकी दैवी सम्पदाओंकी वृद्धि होती रहती है।

मनुष्यको अपने महान् तेज एवं सामर्थ्यका तबतक ज्ञान नहीं होता, जबतक इस आत्मभावकी चेतना तथा आत्मतत्त्वका बोध न हो जाय। आध्यात्मिक दृष्टिकोण हो जानेपर मनुष्य क्षुद्र मायाजालसे मुक्त होकर आत्माके प्रदेशमें विहार करता है। उसे ऐसा अनुभव होता है, मानो वह अन्धकारसे दिव्य प्रकाशमें आ गया हो। जिस प्रकार भोजन करनेके बाद भूख नहीं रह जाती और सुस्वादु भोजन भी सामने लानेसे उसे खानेकी इच्छा नहीं रहती, उसी प्रकार आध्यात्मिक भोजन चख लेनेके बाद इन्द्रियोंका परिमित आनन्द फीका मालूम पड़ने लगता है। सच्चा सुख तो आत्मानुभूतिसे ही प्राप्त होता है।

ईश्वरत्व बोलता है

अंग्रेजीकी एक उक्ति है कि 'One grows into the likeness of what one loves' इसका तात्पर्य है कि मनुष्य जिसको सच्चे हृदयसे, पूरे मनोयोगसे प्रेम करता है, वह धीरे-धीरे उसीके समान बदलने लगता है और कुछ काल पश्चात् वस्तुत: वैसा ही हो जाता है। हमारा मन विचारोंको खींचकर तदनुकूल ही हमारे चारों ओर एक प्रकारके मानसिक वातावरणकी सृष्टि करता है। विचारोंका न दीखनेवाला एक वातावरण हमारे इर्द-गिर्द मानसिक चिन्तनके अनुसार बनता-बिगड़ता रहता है। जो अच्छे-बुरे विचार हमारे चारों ओरके वातावरणसे घिरकर हमारे मनमें आते और देरतक टिके रहते हैं, कालान्तरमें वे ही हमारे मानसिक संस्थानके स्थायी अंश बन जाते हैं। अत: विचारोंके इस अदृश्य वायुमण्डलका विशेष महत्त्व है।

मनुष्यके इस अदृश्य वायुमण्डलका गुप्त प्रभाव उसके जीवनपर पड़ता रहता है। जैसे-जैसे विचार आते रहते हैं वैसा-वैसा यह वायु-मण्डल बनता-बिगड़ता चलता है। यदि विचार शुभ हैं, तो स्वयं मनुष्यको एक प्रकारका हलकापन-सा अनुभव होता है, वह अपने मन और आत्मापर कोई भी भार या बोझ अनुभव नहीं करता; प्रसन्नतापूर्वक प्रत्येकसे बातें करता है। न किसीसे डरता है, न शरमाता है। जब वह किसी अशुभ संकल्प, पापवृत्ति या दुष्ट स्वार्थी विचारमें फँस जाता है, तो वैसा ही अनिष्टकारी वातावरण बन जाता है और मनमें कुछ भारीपन अनुभव होता है। विकारोंका गुप्त वातावरण स्वयं अपनेमें ही शरीर, मन और आत्माको भारी बना देनेवाला है।

ईश्वरका कुछ ऐसा विधान है कि शुभ सात्त्विक संकल्प पवित्र विचारधाराके साथ हमें अन्दरसे एक शक्ति मिलती है। यह हमारी आत्माकी या देवत्वकी या यों कहिये कि पवित्रताकी शक्ति है। पवित्र कार्यका संकल्प करनेसे हमारे अन्तर्मनसे ही एक गुप्त ओज निकलकर

कार्यसिद्धिमें हमारी सहायता करता है। इस प्रकारकी विचारधारासे हमारा बहिर्मन उसी मात्रामें प्रयत्न करता है, शरीरसे मजबूतीसे कार्य कराता है और हम सफल हो जाते हैं। बुरे संकल्पों, कुत्सित स्वार्थी विचारों या गन्दे कार्योंमें हमारी अन्तरात्माका कोई सहारा हमें नहीं मिलता। फलतः उन्हें करनेमें हमें स्वयं भारीपन मालूम होता है। जिसका मस्तिष्क पापमय कार्य या अशुभ चिन्तनमें लगा हुआ है, उसका अशुभ वायुमण्डल बनता है और उसे पापकी ओर प्रवृत्त करता है। लेकिन एक बड़ी अनोखी बात यह है कि यह वातावरण अधिक देरतक नहीं रह पाता। एक सात्त्विक प्रवृत्ति आते ही—चन्द्रमाके उदय होते ही आकाशके काले-घनकी तरह—सब विकार नष्ट हो जाते हैं। मन अस्वाभाविक पाप-बन्धनसे मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक शुभ दिशामें कार्य करने लगता है। शक्तियोंके सदुपयोग, परोपकार, सेवामें ही ईश्वरकी दिव्य सम्पदाएँ हमारे साथ रहती हैं। कहा भी है—

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेत-
ज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

शक्ति, योग्यता या विभूति स्वयं कुछ महत्त्व नहीं रखतीं। हम उनका सदुपयोग करते हैं, दूसरोंके कल्याणमें उन्हें लगाते हैं या दुरुपयोग करते हैं, दूसरोंके पीड़नमें लगाते हैं—यही वास्तविक बात है।

आपके मनमें जो शुभ और सात्त्विक विचार आते हैं; जो सत्य, न्याय, प्रेम, सहानुभूतिके पवित्र संकल्प उदित होते हैं, वह आपके मनमें बोलता हुआ ईश्वरत्व है। आपका मन एक पवित्र मन्दिरकी तरह है और अन्तरात्मासे उठनेवाली शुभ धारणाएँ उस मन्दिरसे उठनेवाली सुरभि हैं।

मनोविज्ञानवेत्ताओंका मत है कि मनुष्यका मन एकमार्गी है; अर्थात् उसमें एक समयमें एक ही विचार रहता है। इसकी तुलना हम 'वन

वे ट्रॉफिक ' वाली सड़कोंसे कर सकते हैं। इसमें एक समयमें एक ही प्रकारका विचार-प्रवाह चलता रहता है। दो विभिन्न भावनाएँ एक ही समयमें नहीं बनी रहतीं।

जब एक ही प्रकारका प्रवाह रहता है, तब दूसरे प्रकारका विपरीत विचार प्रविष्ट नहीं होता। यदि दयाका विचार चल रहा है, तो क्रोधका विचार नहीं चल सकता; यदि प्रेम, सहानुभूति, करुणाकी त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है, तो हिंसा, वैमनस्य, आवेशके आसुरी विचार नहीं रह सकते। इसी बातको यों समझिये कि हमारे मनमें रहनेवाला अच्छा विचार एक प्रकारका ऐसा कवच है, जो हिंसा, पाप, क्रोध, वासना, स्वार्थ या अन्यायके अनिष्ट विचारोंसे हमारी रक्षा कर सकता है। मनका सात्त्विक वातावरण ही हमारा वह कवच है, जो दूषित विचारधारा या अमंगलकारी वासनाओंसे हमारी रक्षा करता है।

उपनिषदोंमें भी इस मानसिक मार्गका उल्लेख इस प्रकार है—'यदि द्वेष भावनाको रोकनेके लिये प्रीति, क्रोधभावको शान्त करनेके लिये शान्ति, दोषपूर्ण दृष्टिको रोकनेके लिये गुणग्राहकताका उपयोग किया जाय तो पहलेवाली बुरी भावना अपने-आप रुक जाती है। यदि मनमें किसी प्रकारके अनिष्ट-विचारका प्रवाह आरम्भ हो तो उसे रोकनेके लिये उसके विपरीत सद्‌गुण और धर्मवाली भावना मनमें प्रचुरतासे प्रवाहित कर मानस-प्रदेशको धो डालना चाहिये। इससे अनिष्ट विचारका प्रवाह स्वतः बदल जायगा और मन बुरे विचारसे हटकर अच्छे मार्गपर आ जायगा।'

उपर्युक्त नियमका प्रयोग कर आप अपने आन्तरिक मानसिक जीवनको आमूल बदल सकते हैं और अच्छे स्वभावका निर्माण कर सकते हैं। दीर्घ अभ्याससे सूक्ष्म संस्कार भी बदल सकते हैं।

हमारा स्वभाव पुराने विचारोंका जमा हुआ रूप है। सूक्ष्म स्पन्दनों या कर्मोंका ठहरा हुआ रूप है। बार-बार निन्द्य विचार एकत्रित होकर स्वभावका निर्माण करते रहते हैं। अपने विगत जीवनमें ये कुत्सित

विचार प्रचुरतासे हमारे मनमें आते रहे हैं। उन्हींसे बुरे संस्कार बने हैं। अब इनके विपरीत पवित्र भावनाओंको मनमें बसानेसे नये शुभ संस्कार बन सकते हैं। शुभ विचारोंमें रमणसे शुभ संस्कार बनते हैं और जीवन बदल जाता है। पापमें किसीको स्थायी आनन्द नहीं मिला, वासनाएँ किसीकी पूर्ण नहीं हुईं; दुर्भावनाओंके मध्य किसीने शान्ति प्राप्त नहीं की है। सद्विचारोंने, आस्तिकताने, ईश्वरकी दिव्य शक्तियोंने ही सच्चा प्रकाश दिया है। हमें चाहिये कि अपनी दैवी शक्तियों—उदारता, सहानुभूति, दया, प्रेम, निःस्वार्थता, आत्मसंयमके विचार ही मनमें स्थायीरूपसे रखा करें और उन्हें विकसित करें। इन्हींको अपने जीवन और स्वभावका एक अंग बना लें।

जीवनका सर्वोपरि लाभ

एक विद्वान् लिखते हैं, संसारमें अनेक प्रकारके लाभ हैं—धन, मान, पद, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, स्वास्थ्य, सहयोग, विद्या, बुद्धि, मनोरंजन, वैभव, सम्पन्नता, साधन, स्थान आदि। इन सांसारिक लाभोंके अर्जनमें मनुष्य जीवनभर लगा रहता है। जितने अंशोंमें उसे ये लाभ मिल जाते हैं, उतने ही अंशोंमें तृप्ति एवं सन्तोष भी मिल जाता है। तदनुसार उतने ही अंशोंमें प्रसन्नता भी प्राप्त होती है। पर यह सन्तोष, यह तृप्ति, यह प्रसन्नता क्षणिक है। ये वस्तुएँ परिवर्तनशील और नाशवान् हैं। आत्मिक सुख स्थायी वस्तु है। अध्यात्मवाद जीवनका वह तत्त्वज्ञान है जिसपर हमारी सब भीतरी-बाहरी उन्नति, समृद्धि, सुख एवं शान्ति निर्भर है। अध्यात्मवाद वह महाविज्ञान है, जिसकी जानकारीके बिना भूतलके समस्त वैभव निरर्थक हैं और जिसके थोड़ा-सा भी प्राप्त हो जानेपर जीवन आनन्दसे ओत-प्रोत हो जाता है। यों तो संसारमें सीखनेयोग्य अनेक वस्तुएँ हैं, पर सबसे पहले जिसे सीखने और हृदयंगम करनेकी आवश्यकता है, वह अध्यात्मवाद ही है।

इन शब्दोंमें गहरा सत्य है। वह व्यक्ति निश्चय ही धन्य है जिसने अध्यात्म-पथको अपनाया है। संसारके माया-मोह-जालमें रहकर यदि किसी दृष्टिकोणसे आन्तरिक शान्ति प्राप्त हो सकती है तो वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही है।

अध्यात्म क्या है? संसारमें प्रायः सभी पदार्थ नश्वर हैं। हमारे सांसारिक जीवन-मूल्य भी नश्वर हैं। उनमें एक ही ऐसा तत्त्व है, जो अमर है, शाश्वत है और कभी न बदलनेवाला है। वह तत्त्व हमारी आत्मा है। हमारी आत्मा संसारमें व्याप्त परमात्माका एक अंश है। यह आत्मतत्त्व हमें प्रेम, सहानुभूति, सच्चाई, दूसरोंकी सहायता, दुर्बलोंकी सेवा और सदाचरण करनेको प्रेरित किया जाता है।

जो व्यक्ति सांसारिकता छोड़कर अपनी आत्माके दिव्य गुणोंकी अभिवृद्धिमें लग जाता है, उसे आन्तरिक सन्तोष, प्रेम, आत्मीयता,

बोलते हैं, जिनकी बातें परस्पर विरुद्ध होती हैं, जो दूसरोंका धन हड़प लेते हैं, दूसरोंपर वृथा ही कलंक लगानेके लिये उत्सुक रहते हैं और परायी सम्पत्तिको देखकर जलते हैं, वे नरकमें जाते हैं।

जो मनुष्य सदा प्राणियोंके प्राण लेनेमें लगे रहते हैं या परायी निन्दामें प्रवृत्त होते हैं, कुएँ, बगीचे, पोखरे या सार्वजनिक धर्मशालाओं आदिको दूषित करते हैं वे नष्ट हो जाते हैं।

वाणीसे कुशब्द, गाली, अपमानजनक कटु वचन उच्चारण करना भी पाप है। मनमें गन्दे भाव, षड्यन्त्र, प्रतिशोध, वासना, पाप इत्यादिकी भावना रखना खतरनाक है। अग्निको वस्त्रमें छिपाकर रखिये तो अन्दर-ही-अन्दर वह सुलगती रहती है। धीरे-धीरे समीपके वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओंको जला डालती है। सम्भव है, इस अग्निका धुआँ उस समय दिखायी न दे, किन्तु अदृश्यरूपमें वह वातावरणमें सदा वर्तमान रहता है। गुनाह या पाप ऐसी ही अग्नि है, जो अन्दर-ही-अन्दर मनुष्यमें विकार उत्पन्न करती है, इस आन्तरिक पापकी काली छाया अपराधीके मुख, हाव-भाव, नेत्र, चाल-ढाल इत्यादिद्वारा अभिव्यक्त होती रहती है। अपराधी या पापी चाहे यह समझता रहे कि वह अपराधको छिपा सकता है; परन्तु वास्तवमें पाप छिपता नहीं। मनुष्यका अपराधी मन उसे सदा व्यग्र, अशान्त और चिन्तित रखता है।

पाप पानीकी तरह है। यह हमें नीचेकी ओर खींचता है। इसी प्रकार चरित्रमें दुर्गुण कोई क्यों न हो, मनुष्यको नीचेकी ओर ले जाता है। यह नीचाई चरित्रके अनेक कार्योंद्वारा निरन्तर प्रकट होती रहती है। आप चाहे कितना भी प्रयत्न करें, किन्तु आन्तरिक पापसे कलुषित मन स्पष्ट प्रकट हो जाता है। अवगुणसे मनुष्यकी उच्च सृजनात्मक शक्तियाँ पंगु हो जाती हैं, बुद्धि और प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है।

पाप वह दुर्भाव है, जिसके कारण हमारे आन्तरिक मन तथा अन्तरात्मापर ग्लानिका भाव आता है। जब हम कोई गन्दा कार्य करते

गया तो उसने उस जहाजपर यात्रा करते हुए कविको बरबस रोककर अपने पापकी सारी कहानी कही, पश्चात्ताप प्रकट किया और पाप प्रकटकर आत्मग्लानिसे मुक्ति प्राप्त की।

पाप क्या है? पुण्य किसे कह सकते हैं? साधारणत: यह कहा जा सकता है कि जिन कर्मोंसे मनुष्य नीचे गिरता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उसे पाप कहते हैं। इसके विपरीत जिन शुभ कर्मोंके करनेसे बुद्धि स्वच्छ एवं निर्मल होने लगती है और आत्मा सन्तुष्ट रहती है, वे पुण्य हैं। पापसे मनमें कुविचार और कुकर्मोंके प्रति वृत्ति उत्पन्न होती है, पुण्यसे अन्त:करण शुद्ध होता है।

यों तो मनुष्यको पाप करते ही स्वयं मालूम हो जाता है कि मुझसे पाप हो गया है; किन्तु फिर भी शास्त्रोंके अनुसार ऐसे पाप हैं, जिनसे सदा-सर्वदा बचना चाहिये। पाँच महापातक हैं—(१) ब्रह्महत्या अर्थात् वेदज्ञ-तपस्वी ब्राह्मणकी हत्या करना। (२) सुरापान, मद्यपान ऐसा पाप है, जिससे मनुष्य पतनकी ओर झुकता है, कुविचार और कुकर्मकी ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। (३) गुरु-पत्नीके साथ अनुचित सम्बन्ध। (४) चोरी करना—इसमें हर प्रकारकी चोरी सम्मिलित है। चोरीका माल स्वयं नष्ट हो जाता है और घरमें जो धर्मकी कमाई होती भी है, उसे नष्ट कर डालता है। (५) महापातकियोंके साथ रहना एक पाप है; क्योंकि उनके संसर्गसे कुप्रवृत्ति पैदा होती है। इनके अतिरिक्त अनेक उपपातक अर्थात् छोटे-छोटे पाप हैं, जिनसे सावधान रहना चाहिये। ये बहुत-से हो सकते हैं, पर मुख्यरूपसे इस प्रकार हैं— (१) गोवध, (२) अयोग्यके यहाँ यज्ञ करना, (३) व्यभिचार और परस्त्री-गमन, (४) अपनेको बेच देना, (५) गुरु, माता, पिताकी सेवा न करना, (६) वेदाध्ययनका त्याग, (७) अपनी सन्तानका भरण-पोषण न करना, (८) बड़े भाईके अविवाहित होते अपना विवाह करना, (९) कन्याको दूषित करना, (१०) सूदपर रुपया लगाना, (११) ब्रह्मचर्य-व्रतका अभाव, (१२) विद्याको बेचना, (१३) निरपराधी जीवोंका वध

सुखद भविष्यमें विश्वास करें

स्वर्ग-युग, सत्ययुग, नवीन युग द्रुतगतिसे, बड़ी शानसे दौड़ता हुआ चला आ रहा है। यह असंदिग्ध सुखद भविष्य विद्वान्, आत्मदर्शी संत पुरुष सूक्ष्मदृष्टिसे ही नहीं, स्थूल नेत्रोंसे भी देख सकते हैं।

संसारमें अच्छाई, सच्चाई तथा शिवत्वका बुराईकी अपेक्षा अब भी आधिक्य है। हम मानते हैं कि इस युगमें मानवका नैतिक एवं आत्मिक पतन हुआ है, किंतु इतनेपर भी उसमें दिव्यता और ईश्वरत्वके अंश अधिक हैं। मिथ्या-भाषणकी अपेक्षा सत्य-भाषण, अपेक्षाकृत अधिक है। झूठ, कपट, अन्यायकी अपेक्षा अधिकांश मनुष्योंमें सत्य, न्याय, नैतिकता ही अधिक है। रोग-शोक और मानसिक वेदनाकी अपेक्षा स्वास्थ्य और आनन्दकी मात्रा अधिक है। संक्षेपमें यों कहें कि अशुद्ध मनोव्यापारकी अपेक्षा शुद्ध, पवित्र और सुन्दर मनोव्यापार अधिक है। यदि अच्छाई अधिक न रहती और बुराई उसके ऊपर चढ़ बैठती तो यह संसार ही नष्ट हो जाता। संसारकी अन्य कोई भी शक्ति उसे न बचा पाती। अच्छाईने, मनुष्यके शिवत्वने ही संसारको समाप्त होनेसे बचा रखा है। इस संसारमें अधिक संख्या पवित्र आत्माओं, सज्जनों, सत्कार्योंमें संलग्न साधु पुरुषों, आत्मदर्शी ज्ञानवानों तथा पुण्यात्माओंकी ही है। उन्हींके पुण्य-प्रताप, सद्भावनाओं और शुभ संकल्पोंपर हम सुखद भविष्यकी आशा कर सकते हैं।

वास्तवमें विश्वव्यापी आत्मा एक ही है। इस अनन्त ब्रह्माण्डके खण्ड-खण्डमें एक ही ईश्वर-तत्त्व व्याप्त है। हम सब प्राणी विशेषतः सत्-चित्-आनन्दस्वरूप मनुष्य उसी विश्वव्यापी ईश्वरके अंश हैं। हम सब खण्ड-खण्डमें विभक्त होकर भी एक ही हैं। एक ही सूत्रमें बँधे हुए हैं। 'हम', 'तुम' पृथक्-पृथक् न होकर एक ईश्वरके पूर्ण अंश हैं। मनुष्योंकी विभिन्नताओंमें भी अन्ततः आन्तरिक एकता ही है। वर्षाके उपरान्त पत्तियोंपर ठहरी हुई पानीकी बूँदोंपर सूर्यका

प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब नाना प्रतिमूर्तियाँ दिखायी पड़ती हैं। हर एक बिन्दुमें सूर्यकी मूर्ति दिखायी पड़ती है। लाखों सूर्य दिखायी देने लगते हैं, किंतु वास्तविक सूर्य तो एक ही हैं। इसी प्रकार इस समाजमें हमें नाना वर्गों, वर्णों, पेशों और आयुके स्त्री-पुरुष दिखायी देते हैं, किंतु वे सब अन्तःस्थिति ईश्वरकी प्रतिमामात्र हैं, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। सबके हृदयमें अच्छाईका केन्द्रबिन्दुमात्र ईश्वर है। हम सब उसकी दिव्यताओंके समीप हैं।

इस विश्वमें आत्मा केवल एक ही है और वही हम-तुम तथा संसारके अन्य समस्त प्राणियोंके शरीरमें प्रतिबिम्बित होती है और वही भिन्न-भिन्न आत्माओंके रूपमें प्रदर्शित होती है। अपनी इस धारणाके कारण ही हम कह सकते हैं कि इस विश्वका, मनुष्यजातिका भविष्य सुखद है। हम जैसे-जैसे विकसित होंगे हमारे ईश्वरत्वका ही प्रसार होगा। दिव्य गुणोंके फ़ैलनेसे संसारमें प्रेम, सुख-शान्ति और विवेकका राज्य फैलेगा।

मनुष्यो! भविष्यमें शुभ समय आनेवाला है। वर्तमानकी बुराइयोंका शोधन होकर, अन्याय, भ्रष्टाचार-अनैतिकताका अन्त होकर नयी सुखद व्यवस्था स्थापित होगी। सत्ययुग आ रहा है। अपने समस्त आकर्षकसे—शान-शौकतसे आ रहा है। उसके स्वागतके लिये हमें तैयार रहना चाहिये।

भविष्यमें पाप घटेंगे और उनका स्थान पुण्य लेगा, यह बिलकुल निश्चित है। मनुष्य सुस्थिर और विवेकपूर्ण जीवन व्यतीत करनेको एक अदृश्य सत्ताद्वारा बाध्य किये जायँगे। वर्तमानके आर्थिक संकट, पूँजीवादद्वारा गरीब जनताका शोषण, रोग-शोक-दुःख इत्यादि नष्ट हो जायँगे।

नया युग कब आता है? युग-परिवर्तन कब होता है? जब पाप, मिथ्याचार, स्वार्थ, लिप्सा, मद, वासना-पूर्ति, विलास इत्यादिकी वृद्धि हो जाती है, पापके भयसे पृथ्वी काँपने लगती है; मनुष्य अपने

ईश्वरत्वको भूलने लगता है; सच्चाई और ईमानदारीका ह्रास हो जाता है; आसुरी प्रलोभन बढ़ जाते हैं और मनुष्य इन्द्रियलालसा-तृप्तिको ही जीवनका मूल आदर्श समझने लगता है, तब युग-परिवर्तन होता है। सत्य मानव-देहमें ईश्वरका अवतार होता है। नास्तिकताको दूरकर पुनः आस्तिकताका राज्य फैलता है। सत्य, न्याय, प्रेम, सहानुभूतिका प्रकाश फैलता है। आत्माका जाज्वल्यमान तेज सर्वत्र छा जाता है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

(गीता ४। ७)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ८)

अर्थात् हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्म (पाप, झूठ, मिथ्याचार, पैशाचिक आकांक्षाएँ, आसुरी प्रलोभनों) की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने स्वरूपको रचता हूँ और साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म (सत्य, विवेक, प्रेम, न्याय, देवत्व) स्थापन करनेके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।

ऐसा प्रतीत होता है, जैसे अब इन्द्रियलोलुपता, स्वार्थ और आसुरी प्रवृत्तियोंकी चरम सीमा आ गयी है। मनुष्य जड विज्ञानकी नास्तिकतासे ऊबकर अब देवत्वकी ओर अग्रसर हो रहा है। मनुष्य राजनीतिके और विज्ञानके दुष्ट प्रयोगोंसे घबराकर सत्यता और न्यायकी ओर मुड़ चला है। अपने देवत्वके प्रकाशमें ही उसे सच्ची शान्ति और अक्षय सुख प्राप्त हो सकता है। वह अब पाप, युद्ध, स्वार्थके बहकावेमें नहीं आयेगा, वरं सत्य, प्रेम, न्यायके सुमधुर फल चखेगा।

सत्ययुग आ रहा है, हमें स्वागतके लिये तैयार हो जाना चाहिये। यह स्वागत तब हो सकता है, जब हममेंसे प्रत्येक मनुष्य अपने देवत्व

तृप्ति नहीं मिल सकेगी, दुःख-दुर्भाग्यकी ज्वाला जलती रहेगी और तिल-तिल करके तुमको जलाती रहेगी। उस जलनेमें झुलसते हुए हर घड़ी रोना, पछताना, क्रुद्ध होना, झुँझलाना और सिर धुनना होगा। भवसागरमें अनेक दुःखोंका भण्डार भरा हुआ दिखायी देता है। उसका कारण यह है कि हम सत्यकी शीतल सरिताका किनारा छोड़कर असत्यके रेगिस्तानमें जा पहुँचते हैं और उस तवे-सी जलती हुई बालूमें पाँव डालनेसे कष्ट होता है। उसे सहते हुए ऐसा खयाल करते हैं कि संसारमें ऐसी जलती हुई रेत भरी हुई है। अतः वेद आपको असत्यसे हटाकर सत्यकी ओर चलनेका आदेश देते हैं—'**असतो मा सद्गमय**'। पाठको! अन्धकारकी ओर नहीं, प्रकाशकी ओर चलो। भविष्य सुखद बन जायगा।

मृत्युका सौन्दर्य

मुझे तो बहुत बार ऐसा लगता है कि जन्मकी अपेक्षा मृत्यु अधिक अच्छी चीज होनी चाहिये। जन्मसे पूर्व माँके गर्भमें जो यातना भोगनी पड़ती है, उसे तो मैं छोड़ देता हूँ; परन्तु जन्मते ही जो यातना प्रारम्भ होती है, उसका तो हमें प्रत्यक्ष अनुभव है। उस समयकी पराधीनता कैसी है? और वह तो सबके लिये एक-सी होती है। मृत्युमें, यदि जीवन स्वच्छ हो तो पराधीनता-जैसी चीज कुछ नहीं रहती। बालकमें ज्ञानकी इच्छा नहीं होती और न उसमें किसी तरह ज्ञानकी सम्भावना ही होती है। मृत्युके समय तो ब्राह्मी स्थितिकी सम्भावना है। इतना ही नहीं, बल्कि हम जानते हैं कि बहुत लोगोंकी मृत्यु ऐसी स्थितिमें होती है। जन्मका अर्थ तो दुःखमें प्रवेश है ही, मृत्युमें सम्पूर्ण दुःख-भक्ति हो सकती है। इस प्रकार मृत्युके सौन्दर्यके विषयमें और उसके लाभके विषयमें हम बहुत कुछ विचार कर सकते हैं और इसे अपने जीवनमें सम्भवनीय बना सकते हैं। (गाँधीजी)

कई दिनोंतक वस्त्र पहननेके पश्चात् आप मैले वस्त्रोंको त्यागकर धोबीके धुले नये सफेद वस्त्र धारण कर लेते हैं, आपका आत्मा गंदगीको स्वीकार नहीं करता। उसका स्वभाव सात्त्विक है। वह स्वच्छ निर्मल वातावरणमें रहना चाहता है। जैसे हम मैले, फटे-पुराने या जले-गले वस्त्रोंको त्यागकर नये वस्त्र धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार हमारा आत्मा पुराने शरीररूपी फटे हुए वस्त्रोंको त्यागकर नये वस्त्र धारण करता है। जैसे कपड़ोंमें उलट-फेर कर देनेसे शरीरपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि नये वस्त्र पहनकर वह और भी निखर उठता है, वैसे ही शरीरकी उलट-पलटका आत्मापर कोई प्रभाव नहीं होता। नया शरीर पाकर आत्मा नये रूपसे फिर पृथ्वीपर अवतीर्ण हो जाता है।

मृत्युसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह तो एक अनिवार्य स्थिति है। यदि जीवन प्रश्न है तो मृत्यु उसका उत्तर! जितने श्वास आपको मिले हैं, उनसे एक भी अधिक मिलनेवाला नहीं है। मृत्युकी

अनिवार्यताको समझते हुए जो-जो महत्त्वपूर्ण कार्य आपको करने हैं, शीघ्र ही कर लेने चाहिये।

कबीरदासने सत्य ही लिखा है—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानसकी जात।
एक दिना छिप जायँगे, तारे ज्यों परभात॥

'मनुष्य-जीवन एक पानीके बुलबुले-समान क्षणिक है। जैसे प्रभात होते ही तारे स्वतः छिप जाते हैं, वैसे ही क्षणमात्रमें जीवनका अन्त हो सकता है।'

झूठे सुखको सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
खलक चबेना कालका, कछु मुखमें कछु गोद॥
मालिन आवत देखकर कलियाँ करें पुकार।
फूले फूले चुनि लिये, काल्हि हमारी बार॥

आगे कबीर कहते हैं—

कबीर यह जग कछु नहीं, छन खारा छन मीठ।
कालि जु बैठी माँड़िया आज मसाणाँ दीठ॥
मरता मरता जग मुआ, औसर मुआ न कोइ।
कबिरा ऐसे मरि मुआ, जों बहुरि न मरना होइ॥
वैद मुआ, रोगी मुआ, मुआ सकल संसार।
एक कबीरा ना मुआ, जिसका राम अधार॥

मृत्यु कोई ऐसी वस्तु नहीं जो औरोंपर न आयी हो और केवलमात्र हमींपर आ पड़नेवाली हो। वैद्य-रोगी, यति-ज्ञानी, महात्मा, विद्वान्-मूर्ख—सभी मृत्युके मार्गसे गये हैं। धन इत्यादि कुछ भी साथ नहीं गया—

कौड़ी कौड़ी जोरि कै, जोरे लाख करोर।
चलती बार न कछु मिल्यो लई लँगोटी तोर॥
हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास।
सब जग जलता देखि कै, भयो कबीर उदास॥

जब मृत्युका बुलावा आता है, तब कोई भी उसे नहीं रोक सकता—

कबिरा जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करे, चले बजावनहार॥

तात्पर्य यह है कि नश्वर शरीरके लिये रोना वृथा है। यह तो हाड़, मांस, रक्त, मज्जा इत्यादि निर्जीव पदार्थोंका बना हुआ एक ढाँचामात्र है। मरनेके बाद भी शरीररूपी मिट्टी ज्यों-की-त्यों पड़ी रहती है। कोई चाहे तो शरीरको मसालोंमें लपेटकर दीर्घकालतक अपने पास रख सकता है, पर देह तो जड है। वास्तविक वस्तु तो आत्मा है। आत्मा अजर-अमर है। उसका नाश नहीं होता। हम जिसे 'हम' कहते हैं, वह वस्तुत: शरीर नहीं, यह अजर-अमर आत्मा ही है और वह आत्मा शरीर छोड़ देनेके पश्चात् भी ज्यों-का-त्यों जीवित रहता है। फिर जो जीवित है, उसके लिये शोक करनेसे क्या प्रयोजन?

भगवान्ने गीतामें कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(२। २२)

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।

अतएव मृत्युसे डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मरनेके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है, परलोक और पुनर्जन्म भी है। जीव इस शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें चला जाता है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ (२। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है। उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

(अर्थात् सद्‌गुणों) को अपने कार्यों और व्यवहारोंमें स्पष्ट करना प्रारम्भ कर दे। सत्य, प्रेम और न्यायको फैलानेमें दत्तचित्त हो जाय। अच्छाईको फैलानेमें हम मिलकर चलें, मिलकर बोलें। वेदोंमें ईश्वरत्व, शिवत्व, दिव्यत्वको फैलानेमें मिलकर चलनेका उपदेश दिया गया है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

(ऋग्० १०। १९१। २)

'हे मनुष्यो! मिलकर चलो, मिलकर बोलो। तुम्हारे मनोंके भाव समान हों। जैसे तुम्हारे पूर्वज विद्वान्‌के समान ज्ञान रखते हुए काम करते थे, वैसे ही तुम भी करो।'

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्त।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्तु एत सध्रीचीनान् वः सं मनसस्कृणोमि

(अथर्ववेद ३। ३०। ५)

अर्थात् गुणोंमें बड़े बनते हुए, ज्ञानको बढ़ाते हुए, एक-दूसरेको प्रसन्न करते हुए, मिलकर कार्यभार उठाते हुए, एक-दूसरेको मीठी बाणी बोलते हुए चलो। मैं तुम्हें (सत्य, न्याय, प्रेमको फैलानेके लिये) आपसे मित्रता करने, मिलकर बैठने और एक मनसे रहनेका उपदेश करता हूँ।

साथियो! सत्पथपर कदम बढ़ाओ। सत्यकी शोकनिवारक, शान्तिदायक, प्रेम-प्रसारक सम्पत्तियाँ सनातन हैं। सत्य वचन, सत्य व्यवहार, सत्य कार्य करना पापों और वर्जनीय वस्तुओंका नाश करना है। दीप्तिमान् आकाशके सत्यको जगानेवाली ज्योतिवाणीको सांसारिक प्रपंचोंमें फँसे हुए मनुष्य भी सुन लेते हैं।

वेदभगवान् आदेश करते हैं, 'हे मनुष्यो! असत्यकी ओर नहीं, सत्यकी ओर ही चलो। झूठ, मायाचार, स्वार्थके अन्धकारमें मत भटको। सत्यके प्रकाशमें आओ। अपनी वास्तविकताका निरीक्षण करो। तुच्छ विषय-वासना, इन्द्रियलिप्सा और तृष्णाकी ओस चाटनेसे